समता कथा माला पुष्पांक-6

विजय के ऊपर विजय

आचार्यश्री नानेश

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

❖ **समता कथा माला पुष्पांक-*6***

❖ **विजय के ऊपर विजय**

❖ **आचार्य श्री नानेश**

❖ प्रथम संस्करण : **सितम्बर, *2010, 3100* प्रतियाँ**

❖ **मूल्य : *15/-***

❖ अर्थ-सहयोगी :
श्री रतनलालजी गुलगुलिया
देशनोक/सिलचर (आसाम)

❖ प्रकाशक :
श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर- *334005* (राज)
दूरभाष : *0151-2544867, 3292177, 2203150 (Fax)*

❖ आवरण सज्जा व मुद्रक :
तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर
दूरभाष : *9314962475*

प्रकाशकीय

महिमा मण्डित स्व. आचार्य-प्रवर श्री नानालालजी म.सा. के रतलाम चातुर्मास में सन् 1988 में उन्हीं के तत्वावधान में जैन सिद्धांत विश्वकोष का लेखन कार्य प्रारम्भ हुआ। उसी के कथा खण्ड में अनेक कथाओं का भी संयोजन हुआ है। कुछ तकनीकी स्थितियों से उक्त कोष का प्रकाशन कार्य अब तक संभव नहीं हो पाया। कथा से आबाल वृद्ध को सात्विक प्रेरणा प्राप्त होती है। हर वर्ग उसे रूचि से पढ़ता है। इसलिए कोष में संयोजित कथाओं के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। इस लेखन- सम्पादन में श्री शांतिलालजी मेहता कुम्भागढ़, चित्तौड़गढ़ के अथक परिश्रम को भी नहीं भुलाया जा सकता।

उपरोक्त पुस्तक समता कथा माला पुष्पांक-6 **विजय के ऊपर विजय** के रूप में आप सभी के समक्ष प्रस्तुत है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में अर्थ सहयोगी के रूप में श्री रतनलालजी गुलगुलिया, देशनोक/ सिलचर (आसाम) ने जो सहयोग प्रदान किया है। उसके लिये संघ आपका आभारी है।

राजमल चौरड़िया
संयोजक - साहित्य प्रकाशन समिति
श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

अर्थ सहयोगी

भारत की पुण्यधरा पर अनेक मनुष्यों का जन्म होता है और वे मनुष्य अपना आयुष्य पूर्ण कर आगे की यात्रा प्रारम्भ कर देते हैं लेकिन उन मनुष्यों में उन्हीं का जीवन श्रेष्ठ है जो अपनी जीवन बगिया के साथ-साथ अन्यों के जीवन को भी अपनी सुरभि से महका रहे हैं। उन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों में से एक विशिष्ट व्यक्तित्व है श्री रतनलालजी गुलगुलिया। आपका जन्म दिनांक 29 अक्टूबर, 1947 को बीकानेर जिले के शक्तिधाम देशनोक में पिता स्व. सेठ श्री फतेहचन्दजी गुलगुलिया एवं माता स्व. श्रीमती भीखीदेवी गुलगुलिया के घर-आंगन में ज्येष्ठ पुत्र के रूप में हुआ। आपके माता-पिता ने बचपन से ही श्री रतनलालजी गुलगुलिया को सुसंस्कारों का खजाना प्रदान किया। जिसके फलस्वरूप श्री रतनलालजी गुलगुलिया ने अतुल ख्याति प्राप्त की और आपको माता-पिता का अंत:करण से आशीर्वाद सदैव ही मिलता रहा।

आपने अपने माता-पिता की तरह सादगी, मिलनसारिता, शांत स्वभाव का गुण अपने जीवन में अपना रखा है। दया, करुणा, वात्सलय आपके जीवन के अभिन्न अंग है। आपने सदैव ही अपने माता-पिता की आज्ञा का अक्षरश: पालन किया और यही गुण आपके जीवन उन्नयन का कारण रहा। आपके तीन भाई ओर चार बहिन भी सुसंस्कारों से ओत-प्रोत है। आपका शुभ विवाह श्रीडूंगरगढ़ निवास श्री इन्दरचंदजी छाजेड़ की सुपुत्री कमलादेवी के साथ दिनांक 4 फरवरी,

1965 को हुआ। धर्मपत्नी शब्द को सार्थक करते हुए श्रीमती कमलादेवी आपके सम्पूर्ण परिवार का नाम रोशन कर रही है। साथ ही पूरे परिवार को सुसंस्कार प्रदान करने में आपका महत्वपूर्ण सहयोग रहा है।

श्री रतनलालजी सदैव ही ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठा, परिश्रम इन गुणों के प्रति समर्पित रहे। आप जब कक्षा 10वीं में अध्ययनरत थे तभी परिवार के ऊपर भारी विपदा आई आपका जो व्यापार मौलवी बाजार और श्रीमंगल में था जो कि अब बंगलादेश में है, अचानक विशेष परिस्थितियों के कारण हाथों से निकल गया। तब आपने पढ़ाई छोड़कर सन् 1962 में मात्र 15 वर्ष की आयु में सिलचर (आसाम) में पारिवारिक व्यापार मैसर्स रावतमल प्रेमसुख को संभाला। आपने व्यापार में पूरी मेहनत, लगन, इच्छाशक्ति के साथ कार्य किया। फलस्वरूप आपका व्यापार दिन दुनी रात चौगुनी प्रगति करता गया।

आप शिक्षा के प्रति भी पूर्णतया समर्पित है, इन विपरित परिस्थितियों में भी आपने शिक्षा को नहीं छोड़ा और रात्रि कॉलेज में पढ़ते हुए बी-कॉम तक की शिक्षा ग्रहण की। आपका अधिकांश व्यवसाय मिजोरम में होता था जहाँ पर शाकाहारी खाने की बहुत तकलीफ रहती थी लेकिन फिर भी आपने कभी भी अपने धर्म को नहीं छोड़ा एवं शाकाहार के प्रति दृढ़-संकल्पी बने रहे। सन् 1988 में आपके पिताजी और सन् 1995 में आपकी माताजी का स्वर्गवास होने के पश्चात् परिवार का सम्पूर्ण दायित्व आपके कंधों पर आ गया। आपने सम्पूर्ण समता भाव के साथ परिवार का कुशलतापूर्वक संचालन किया।

आप समता विभूति आचार्य श्री नानालालजी म.सा. एवं वर्तमान आचार्य प्रवर 1008 श्री रामलालजी म.सा. के प्रति अटूट श्रद्धानिष्ठ सुश्रावक रत्न है। आपका सम्पूर्ण परिवार भी देव, गुरु एवं धर्म के प्रति पूर्णतः समर्पित है। श्रद्धा, निष्ठा एवं आस्था आपके जीवन के अभिन्न अंग है। आपके जीवन में धार्मिकता एवं सामाजिकता के गुण विशेष रूप से समाहित है। सन् 2000 में आपने सम्पूर्ण व्यवसायिक कार्यों से निवृति लेकर धर्म के प्रति विशेष रूचि रख रहे है। आपके संस्कारवान परिवार में तीन सुपुत्र सर्वश्री प्रकाशकुमार-पूर्णिमादेवी, किशोरकुमार-सज्जनदेवी, सुशीलकुमार-रेखादेवी, पौत्र अरिहंत, मुदित, रौनक एवं पौत्रियाँ रीना, शालू, दिव्या, मीनल आपके ही दिखाये हुए मार्ग पर आगे बढ़ रहे है। आपके छोटे भाई श्री तारकेश्वर-शारदादेवी, किरणचंद-संजुलादेवी, महावीरचंदजी-वीणादेवी गुलगुलिया एवं बहिनें किरणादेवी-केशरीचंदजी लुणिया, चम्पादेवी-स्व. श्री हुलासमलजी बोथरा, तारादेवी-डालचंदजी हीरावत एवं सीता देवी-बहादुरमलजी मुणोत भी धर्मनिष्ठ व्यक्तित्व के धनी है। आपके तीनों सुपुत्र आपके कोलकाता का व्यवसाय सफलतापूर्वक संचालित कर रहे हैं। आपकी छत्र-छाया में सम्पूर्ण परिवार एकसूत्र में पिरोकर सुसंस्कारों के साथ वट-वृक्ष की भांति लहलहा रहा है।

अनुक्रमणिका

सुस्वादु भोजन और मोरी का पानी	:	9
साहूकार और चोर एक बेड़ी में	:	16
विजय के ऊपर विजय	:	25
गुफा में अंधकार भी, प्रकाश भी	:	36
बैलों की जोड़ी के लिये	:	44
मेंढक का मरण	:	56
फूटे ढोल से घोषणा	:	64
कहाँ है मेरा मुकुट?	:	71
चेटक की तलवार	:	81
बारह बंध कच्चे धागे के	:	90

सुस्वादु भोजन और मोरी का पानी

आज के भोजन का स्वाद बहुत ही अनूठा है। एक-एक भोज्य पदार्थ इतनी कुशलता से तैयार किया गया है कि बुभुक्षा शान्त हो जाती है किन्तु तृप्ति नहीं होती। जी चाहता है कि उसे खाये ही जाये। क्यों भद्रजनों, आपकी क्या राय है? एक दृष्टि चम्पानगरी के जितशत्रु राजा ने चारों ओर घुमाई जैसे वे इस सुस्वादु भोजन के सम्बन्ध में सबकी एक ही समान सराहना की राय समझ रहे हों।

भोजन वास्तव में ही अतीव सुस्वादु था। जो व्यक्ति तत्त्वज्ञान में गहरा बैठा हुआ न हो तो अपनी सामान्य राय यही दे सकता है कि विभिन्न पौष्टिक एवं सुगंधित पदार्थों से युक्त वह राजसी भोजन स्वाद की श्रेष्ठता को लिये हुए है। किन्तु वह व्यक्ति जो तत्वज्ञानी है और पुद्गल तत्व की परिणमन प्रक्रिया को समझ सकता है, ऐसे भोजन की भी व्यर्थ की सराहना नहीं करना चाहेगा, क्योंकि वह जानता है कि ऐसे सुस्वादु

भोजन को भी खाने के बाद उसका आगामी परिणमन किस रूप में होगा?

सामान्य समझ वाले उपस्थित, आमंत्रित जनों ने राजा के स्वर में स्वर मिलाते हुए यही कहा- हाँ महाराज, आज के भोजन का स्वाद हकीकत में निराला ही है। एक भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसके स्वाद में जरा-सी भी मीन-मेख निकाली जा सके। यह तो राजकीय पाकशाला के कौशल का ही सूचक है।

राजा जितशत्रु उस भोजन की सराहना सुनकर हर्षित हुआ। इसी बीच उसकी दृष्टि अपने बुद्धिशाली, चतुर एवं तत्त्वज्ञाता मंत्री सुबुद्धि पर पड़ी। वह मौन साधे नीचा सिर किये चुपचाप बैठा था। राजा को उसे इस अवस्था में देखकर खेद हुआ। उसने यह अनुमान लगाया कि सुबुद्धि को इस भोजन में कोई खोट अवश्य अनुभव में आई है, इसी कारण वह शान्त बैठा है। अतः उसे ही सम्बोधित करते हुए राजा बोला- क्यों सुबुद्धि मंत्रीवर, भोजन के सुस्वाद के सम्बन्ध में तुम हमारी राय से सहमत नहीं हो? तुम्हें इस भोजन में जो दोष लगा हो उसे अवश्य हमें बताओ।

राजन्! भोजन हो या अन्य कुछ, भला पदार्थ में क्या दोष होता है? वह तो अपने स्वभाव से ही परिणमनशील होता है अर्थात् उसका वर्तमान स्वरूप

सड़ता है, गलता है और बदलता है और सड़ा-गला स्वरूप भी पुनः परिवर्तित होता है। अतः पदार्थ का कुछ नहीं, हमारी दृष्टि का प्रश्न है।

मैं समझा नहीं। तुमने संभवतः आज के भोजन की भी बुराई की है और उसके सम्बन्ध में व्यक्त हमारे दृष्टिकोण की भी- राजा ने यह बात कुछ रोषपूर्वक कही।

सुबुद्धि ने नम्रतापूर्वक राजा की शंका दूर की और तत्त्वज्ञान की मौलिकता समझाई- महाराज! आपकी बुराई करने की बात मैं सोच भी नहीं सकता हूँ। मैं तो तत्त्व की बात बता रहा था कि भोजन या किसी पदार्थ के स्वाद या गुण की सराहना करने में कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। पदार्थ की मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता सदा एक-सी नहीं रहती और मनोज्ञ पदार्थ बदलकर अमनोज्ञ हो जाता है तथा प्रयोग विशेष के द्वारा अमनोज्ञ पदार्थ भी मनोज्ञ बनाया जा सकता है। पुद्गलों का यह परिणमन शुभ से अशुभ और अशुभ से शुभ होता ही रहता है, अतः समभाव से किसी भी पदार्थ के स्वरूप को समझना और आंकना चाहिये।

राजा का मन साफ नहीं हुआ और न ही उसने सुबुद्धि के उस तत्त्वज्ञान को सत्य माना। वह यही समझता रहा कि सुबुद्धि ने उसकी राय को काटने के

लिये ऐसे तर्क प्रस्तुत किये हैं। अपनी बात को समर्थन न देने की मंत्री की वृत्ति उसे पसन्द नहीं आई। परन्तु उस समय राजा ने भी अपनी कोई विशेष प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की तथा सुबुद्धि मंत्री ने भी आगे कुछ नहीं कहा यह सोचकर कि इस सम्बन्ध में कुछ व्यवहारिक परिणाम दिखाकर ही राजा को सन्तुष्ट करना होगा।

चम्पानगरी के बाहर एक परिरवा थी। उसमें अत्यन्त अशुचि दुर्गन्धयुक्त एवं सड़े-गले मृतक कलेवरों से व्याप्त गंदा पानी भरा हुआ था। राजा जितशत्रु एक बार सुबुद्धि प्रधान आदि के साथ घुड़सवारी पर निकला और उसी परिरवा के निकट से गुजरा। पानी की दुर्गन्ध को राजा सहन न कर सका और वस्त्र से नाक और मुँह ढ़क लिया। राजा ने पानी की अमनोज्ञता का वर्णन किया। साथियों ने भी समर्थन किया, पर सुबुद्धि मंत्री इस बार भी चुप रहा।

मंत्री को मौन देखकर राजा ने उससे कहा- सुबुद्धि! तुम्हें हो क्या गया है क्या अवास्तविक तत्त्व के चक्कर में फंसे हुए हो? तुमसे न तो उस सुस्वादु भोजन की सराहना करते बनी और न ही तुम इस परिरवा के दुर्गंधित पानी की निन्दा कर पा रहे हो?

मंत्री ने फिर वही उत्तर दिया- महाराज! पदार्थ की क्या सराहना या निन्दा करनी- वह तो मनोज्ञ से अमनोज्ञ और अमनोज्ञ से मनोज्ञ होता ही रहता है।

झूठ सुबुद्धि झूठ। तुम्हारी मान्यता सत्य नहीं है। पदार्थ की मनोज्ञता तो मनोज्ञता ही होती है और अमनोज्ञता भी अमनोज्ञता। अब सही बात की प्रशंसा या निन्दा न करना बुद्धि की जड़ता है, यथार्थता नहीं। तब सुबुद्धि ने सोचा- इन जितशत्रु राजा को सत्य तथ्य अद्‌भूत और यथार्थ जिनप्रणीत भावों का ज्ञान नहीं है। अतः मेरे लिए श्रेष्ठ यही है कि मैं पदार्थ के स्वरूप की वास्तविकता एवं मौलिकता के दर्शन राजा को करवाऊँ और तत्त्वरूप जिनकथित भावों से मेरे कथन की सत्यता प्रकट करूँ।

ऐसा सोचकर अपने विश्वास-पात्र पुरुषों से उस खाई का पानी मंगवाया। अनेकविध प्रयोगों से कालान्तर में

खन्धक का वह पानी उत्तम जल के रूप में परिणत हो गया। स्फटिक के समान स्वच्छ एवं मनोज्ञ वर्ण, गंध, रस व स्पर्श से युक्त आस्वादन के योग्य हो गया।

एक दिन सुबुद्धि ने प्रयोगों के द्वारा परिष्कृत, सुगंधित, श्रेष्ठ जल को मनोज्ञ प्यास बुझाने में समर्थ और सम्पूर्ण शरीर को आह्लादित करने वाला जानकर राजा के नौकरों को बुलाकर कहा- यह श्रेष्ठ जल राजा को भोजन के समय में देना।

जब राजा ने भोजन में वह वह जल पिया तो आश्चर्यचकित हो गया। उसने जल की खूब प्रशंसा की

और पानी के बारे में पूछा तो नौकरों ने कहा कि यह पानी सुबुद्धि मंत्री के यहाँ से लाया गया है। सुबुद्धि मंत्री को बुलाया गया। सुबुद्धि को पूछने पर उसे बताया- यह पानी नगर के बाहर की खन्धक का है। साफ-साफ बताओ वास्तविकता क्या है- राजा ने जिज्ञासापूर्वक पूछा।

महाराज आपको याद होगा कि हम दोनों कुछ दिनों पहले नगर की उस सीमा पर गये थे जहाँ सारी मोरियों का गन्दा पानी इकट्ठा हो रहा था और आप उसकी तीव्र दुर्गंध को सह नहीं पाये थे। याद है न आपको?

हाँ, हाँ, मुझे सब याद है किन्तु उसे अभी यहाँ पूछने का तुम्हारा क्या अभिप्राय है?

मैं इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ महाराज कि यह जल जो अभी आपने पिया और सराहा है उसी गंदी मोरी का दुर्गंधित जल है।

क्या कहा तुमने? तुमने मुझे मोरी का पानी पिला दिया? जानते हो इसका क्या दंड हो सकता है?

शान्त होवें महाराज, यह सब मैंने आपको तत्त्वज्ञान के बारे में भली-भाँति समझाने के लिये ही किया है। फिर सुबुद्धि ने सारी बात बताई। राजा ने जब यह प्रयोग स्वयं कराया तो उसे यथार्थता का अनुभव

हुआ और राजा ने सुबुद्धि को धर्म सुनने की जिज्ञासा व्यक्त की। सुबुद्धि ने राजा को जिन धर्म सुनाया और राजा श्रावक व्रतों को ग्रहण कर श्रमणोपासक जीवन व्यतीत करने लगा। किसी समय स्थविर भगवन्तों के उपदेश श्रवण से सुबुद्धि के प्रव्रजित होने की भावना बनी। राजा से अनुज्ञा लेने गये तो राजा ने यह कहकर रोक दिया कि कुछ वर्ष संसार में रहकर हम दोनों ही दीक्षा ले लेंगे।

बारह वर्ष बाद पुनः स्थविर भगवन्तों के पधारने पर राजा व सुबुद्धि ने अपने ज्येष्ठ पुत्रों को कार्यभार सम्भलाकर प्रवृज्या अंगीकार कर ली। दोनों ने 11 अंगों का अध्ययन कर बहुत वर्षों तक संयम पालन किया और एक मास की संलेखना-संथारापूर्वक देह त्याग कर मोक्ष प्राप्त किया।

स्रोत - ज्ञाताधर्म कथा सूत्र

सार - 1. स्वभाव से मलिन चित्त प्राणी भी सद्गुरू से चारित्र का आराधक हो सकता है।

2. पुद्गल का स्वभाव परिणमनशील होता है।

❖ ❖ ❖

साहूकार और चोर एक बेड़ी में

राजगृह के धन्ना सार्थवाह के पास पुण्य प्रभाव से सबकुछ था- अपार धन-सम्पदा, विपुल सुख-साधन एवं ऐश्वर्य की अतिशय सामग्री। अभाव था तो एक बात का और वही अभाव उसके लिये उस सबकुछ से भी बड़ा बना हुआ था। उसके कोई सन्तान नहीं थी, जिसके अभाव में उसे अपना जीवन भी व्यर्थ-सा प्रतीत होता था।

जब भी धन्ना अपनी धर्मपत्नी भद्रा के साथ बैठता तो दोनों के सामने यही अभाव वृहदाकार ले लेता। इस हेतु दोनों ने कई उपाय किये, किन्तु कोई भी उपाय सफल नहीं हुआ। एक बार भद्रा सार्थवाही ने ध न्य सार्थवाह से इस प्रकार कहा कि मैं कितनी हतभागिनी हूँ कि आपको कुल का एक दीपक भी नहीं दे पायी।

जी छोटा न करो, प्रिये, जब पुण्य का प्रभाव प्रकट होगा, तब तुम्हारी सारी अभिलाषाएँ अवश्य पूर्ण

हो जायेगी। धैर्य एवं धर्मसाधना के साथ इस समय को व्यतीत करो। धन्ना ने मृदुल आश्वासन दिया।

और यथार्थ में पुण्य का उदय हुआ तो भद्रा सेठानी गर्भवती हुई तथा यथासमय उसने एक सुन्दर बालक को जन्म दिया, जिसका नाम रखा गया देवदत्त। धन्ना और भद्रा की खुशी की तब सीमा न रही। दोनों देवदत्त की चपल बाल क्रीड़ाओं में मग्न रहते और सन्तान सुख का आनन्द लेते।

बालक देवदत्त जब चार-पाँच वर्ष का हुआ तो उसे बाहर खेलाने तथा देखभाल करने के लिये धन्ना सार्थवाह ने अपने पंथक नाम के दास को नियुक्त किया। पंथक देवदत्त की सार-सम्भाल करता और उसे प्रसन्न रखता।

उसी नगर के बाहर सुनसान बीहड़ में विजय नामक एक चोर रहता था। वह चौर्यकर्म में तो अति कुशल था ही, किन्तु स्वभाव से भी अति क्रूर एवं महापापी था। उसकी भयानक आकृति किसी को भी आतंकित बना देती थी। उसकी आकृति की भयानकता चेहरे पर खिंची निष्ठुरता एवं निर्दयता की गहरी रेखाओं से स्पष्ट होती थी। जहाँ भी वह हाथ डालता, उसे सफलता मिलती। कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसे वह प्राप्त करना चाहे और वह नहीं ले पाए। चाहे उसका स्वामी

कोई भी हो, कैसा भी शक्तिशाली हो। ऐसा ही उसके चौर्यकर्म का सब ओर आतंक था।

एक बार भद्रा सेठानी ने अपने पुत्र देवदत्त को नहला-धुलाकर सज्जित किया और मूल्यवान वस्त्राभूषण पहनाये। फिर उसने पंथक को उसे बाहर घुमा लाने को कहा। पंथक देवदत्त को लेकर कुछ दूर खुले मैदान में चला गया, जहाँ अन्य कई बालक भी खेल रहे थे। उन बालकों में देवदत्त तन्मय होकर खेलने लगा और पंथक भी सबके साथ छिप-खोज खेल में लग गया।

उसी समय विजय चोर उधर से निकला और उसकी दृष्टि बालक देवदत्त पर पड़ी। बालक देवदत्त पर क्या, उसके मूल्यवान आभूषणों पर पड़ी। उसका मन ललचा उठा। उसने देखा- उसके पास कोई रक्षक भी नहीं है और रक्षक होता भी तो वह क्या कर पाता? दुष्ट विजय चोर के समक्ष अच्छे-अच्छों का बल क्षीण हो जाता था। वह जो धार लेता था, करके ही गुजरता था। उस समय उसने धार लिया कि वह देवदत्त के आभूषण अवश्य चुरायेगा तो उसने उसके लिये आभूषण ही नहीं चुराये, बल्कि वह देवदत्त को ही उठाकर ले गया- क्रूर और निष्ठुर जो था। उसने देवदत्त को मार डाला, उसके आभूषण ले लिये और स्वयं मालुक नामक अंधेरे कच्छ में छिप गया।

पंथक जब उस स्थान पर आया, जहाँ देवदत्त खेल रहा था, तब उसे देवदत्त वहाँ नहीं मिला। वह घबरा उठा। उसने चारों ओर खूब खोज की, पर देवदत्त नहीं मिला। वह मिलता कहाँ से- उसका तो जीवनान्त ही हो चुका था। हताश होकर वह घर को लौटा। पंथक के साथ देवदत्त को न देखकर भद्रा चौंक उठी, बोली- दुष्ट, देवदत्त को कहाँ छोड़ आया है? तू अकेला कैसे है? जल्दी बोल।

पंथक जल्दी क्या बोलता? वह तो भय और दु:ख के मारे कांप रहा था। उसकी जीभ सुन्न हो गई थी। जब भद्रा ने दूसरी बार डांटा तो उसे होश आया और लड़खड़ाती हुई बोली में वह कहने लगा- स्वामिनी! बालकों के साथ खेलते-खेलते वह कहाँ गायब हो गया, कुछ पता ही नहीं चला। मैंने उसे सब ओर खोजा, पर वह कहीं नहीं मिला। यह मेरी ही भूल है, मुझे दंड दो। अवश्य देवदत्त का किसी ने अपहरण कर लिया है....

भद्रा यह विवरण पूरा नहीं सुन सकी। वह पछाड़ खाकर भूमि पर गिर पड़ी और मूर्छित हो गई। ध न्ना सेठ भागा आया। उसने कोतवाल को यह घटना सुनाई। कई आरक्षियों के दल बालक देवदत्त को ढूंढ़ने के लिये चारों दिशाओं में निकल पड़े। कोतवाल स्वयं भी अनुमान के आधार पर मलुक कच्छ की ओर रवाना हो गया।

मार्ग में ही कोतवाल को खोज मिल गई। एक कुंए से मृत देह की दुर्गंध आ रही थी। उसने कुंए में झांका तो एक बालक का शव दिखाई दिया। उसे बाहर निकालने पर पहचान कर ली गई कि वह देवदत्त का ही शव था। शव धन्ना सेठ को अत्येष्टि के लिये सौंप दिया गया, किन्तु कोतवाल को अब अपराधी की तलाश थी। वह मलुक कच्छ की ओर बढ़ता गया। वहाँ उसने विजय चोर को परास्त किया तथा उसे पकड़ लिया। उसने देवदत्त की हत्या स्वीकार कर ली। दंड स्वरूप उस विजय चोर को कारागार में डाल दिया गया तथा उस का पांव बेड़ी में बन्द कर दिया गया।

संयोग या दुर्योग की बात कि उन्हीं दिनों धन्ना सेठ की कोई सामान्य राज्य विरोधी स्थिति पकड़ी गई और दंड स्वरूप उसे भी कारागार मिला। कारागर तो मिला ही, किन्तु उसे वही बेड़ी मिली जिसकी एक बाजू में विजय चोर का पांव बन्द था तो दूसरी बाजू में धन्ना साहूकार का भी पांव बन्द कर दिया गया। प्राचीनकाल में ऐसी बेड़ी को 'खोड़ा' कहा जाता था, जिसके दोनों ओर के दो छेदों में दो बंदियों का एक-एक पांव बन्द किया जाता था।

यों धन्ना साहूकार और विजय चोर एक ही खोड़े में साथ-साथ बन्दी बन गये। दोनों एक-दूसरे के

आश्रित हो गये। एक चाहे और दूसरा न चाहे तो वह काम नहीं हो पाता। साहूकार और चोर, पूर्व और पश्चिम- एक हत्या किये गये पुत्र का दु:खी पिता तो दूसरा उसी पुत्र का हत्यारा। जिसका मुँह देखना भी न रुचे, उसके साथ एक खोड़े में बंधा धन्ना सेठ विह्वल-विकल था, पर क्या करता?

धन्ना सार्थवाह के घर से स्वादिष्ट भोजन और सुवासित जल आया। सेठ भोजन करने लगा- उसे देख विजय चोर का जी ललचा उठा, उसने कहा- सेठ, थोड़ा भोजन और जल मुझे भी दो।

सेठ के तन-बदन में आग लग गई वह बोला- दुष्ट, तूने मेरे उस इकलौते पुत्र की हत्या कर डाली, जो हमारे लिये दुर्लभ था- कुछ आभूषणों के लिये। तू मांगता या चुराता तो उससे कई गुने आभूषण पा लेता, किन्तु बालक की हत्या करके तूने हम दोनों का जीवन उजाड़ दिया और अब मैं तुझे ही अपना भोजन और जल दूं? मांगते हुए तुझे शर्म भी नहीं आई, निर्लज्ज कहीं का?

वह विजय चोर था, पर कारागार के खोड़े में बंधा हुआ। सेठ की झिड़की को वह चुपचाप सह गया।

सेठ ने तृप्तिपूर्वक भोजन किया था तो उसकी प्राकृतिक प्रक्रिया भी अवश्य होनी थी। सेठ को शौच से

निवृत्त होने की आवश्यकता महसूस हुई, पर वह अकेला कैसे जाता? उसने विजय चोर को भी चलने को कहा। विजय भला क्यों जाता? वह अकड़कर बैठा रहा, बोला- अकेले भोजन किया है तो अकेले शौच भी जा आओ। मुझे कहने की कोई जरूरत नहीं है।

सेठ भौंचक्का रह गया- विजय चोर के सहयोग के बिना वह शौच से निवृत्त नहीं हो सकता था। उसे अपनी भूल अनुभव हुई। उसने आगे से अपना आधा भोजन-जल विजय को देने का वादा किया तब कहीं वह अपने स्थान से उठा और सेठ के साथ गया। इस प्रकार प्रतिदिन सेठ अपना आधा भोजन एवं जल विजय चोर को अपने हाथ से देता और चोर उसका उपभोग करता।

धन्ना की यह विवशता थी, किन्तु भोजन लाने वाला उसका अनुचर उसे क्या समझता? उसे सेठ का वह व्यवहार एकदम अनुचित जान पड़ा। उसने वह संवाद भद्रा को कहा। भद्रा कुपित हो उठी- अपने पुत्र के हत्यारे के साथ अपना भोजन बांटने वाला सेठ क्या पुत्र वियोग के दारूण दु:ख को भी भूल गया है? भद्रा इससे आगे कोई विचार न कर सकी। वह पति के प्रति रुष्ट हो गई।

दंडावधि पूरी होने पर धन्ना सेठ कारागार से

मुक्त हो गया। जब वह घर पर पहुँचा तो सेठानी ने उससे मुँह फेर लिया, उससे बात तक नहीं की। सेठ ने भद्रा के रोष का सही कारण नहीं जाना, इसी कारण कहा- प्रिये, मैं कारागार से मुक्त होकर आया हूँ तो क्या तुम प्रसन्न नहीं हो? इस तरह मुँह फुलाने का आखिर क्या कारण है?

आर्य! आप मुक्त हुए, मुझे प्रसन्नता हुई, किन्तु मैं आपके इस व्यवहार को कैसे सह लेती कि आप अपने ही पुत्र के हत्यारे के साथ हमेशा मिल-बांटकर भोजन करते थे? क्या आपको अपनी इस बुद्धि भ्रष्टता पर कोई खेद नहीं है? भद्रा क्रोध से जैसे फुफ्कार कर उठी।

धन्ना पलभर में भद्रा के क्रोध का सारा कारण समझ गया। तब वह तनिक मुस्कुराया और बोला- प्रिये, मेरी इस विवशता की बात को सुनो और ध्यान से समझो। सारी परिस्थितियों का ज्ञान करके तुम समझ जाओगी कि मेरा कार्य कितना सन्तुलित और संयमित था। तब मेरे प्रति तुम्हारा क्रोध अवश्यमेव शान्त हो जायेगा। सेठ समझाते हुए तब आगे कहने लगे- मैंने विजय चोर को अपना मित्र या हितैषी नहीं माना और न ही ऐसा मानकर उसे भोजन दिया। परिस्थितियों की विवशता मेरे सामने थी और मेरे लिये और कोई चारा नहीं था। यह कहकर धन्ना ने भद्रा को सारी परिस्थितियाँ

बताई। भद्रा को सब समझ में आ गया और उसे अपने अर्थहीन क्रोध पर ग्लानि हुई। उसने पति से इसके लिये क्षमायाचना की।

कालान्तर में धर्मघोष नाम के आचार्य जो जाति सम्पनी रूप समान आदि अनेक गुणों से युक्त थे। उनका पधारना हुआ। धन्नासार्थ वाह दर्शन को गया। उनकी अमृत वाणी को सुनकर तीव्र संवेग आया। उसने उसी उत्कृष्ट वैराग्य से श्रमणत्व स्वीकार किया व उसकी आराधना की। भविष्य में मुक्ति को प्राप्त करेगा।

इस कथन का उपसंहार यह है कि जैसे धन्नासार्थवाह ने विजया चोर के साथ आहार का जो सदमद्विभाग किया वह धर्म एवं तप आदि समझकर नहीं अपितु केवल शरीर निर्वाह को आवश्यकता को समझ कर किया। उसी प्रकार साधु-साध्वी जो आहार-भोजन आदि करते हैं उन्हें यही समझना चाहिये कि यह भोजन शरीर के वर्ण रूप लावण्य आदि की वृद्धि के लिए नहीं मात्र ज्ञानवर्द्धन चारित्र की सम्यक् आराधना के लिए ही ग्रहण कर रहे हैं। इस प्रकार शरीर के प्रति निस्स्रह रहना ही साधक का कर्त्तव्य है। साधक को शरीर के प्रति निष्पृह भाव रखना चाहिये।

❖ ❖ ❖

विजय के ऊपर विजय

सिन्धु सौबीर के सम्राट उदायन के वीतभयपत्तन के देव मन्दिर में पुजारिन थी। एक कुब्जा (कुबड़ी) और कुरुप दासी। वह मन लगाकर आगत दर्शनार्थियों की सेवा करती थी एवं सभी को प्रसन्न रखने में सचेष्ट रहा करती थी, किन्तु यह तथ्य सदा उसके चित्त को सालता रहता था कि कोई भी उसे उसकी विरूपता के कारण एक नजर देखना भी नहीं चाहता।

वह मन्दिर के एकान्त कोने में बैठी-बैठी सोचती रहती- इस संसार में शरीर के रूप लावण्य की कितनी महत्ता है? वह एकचित्त से देव भक्ति भी करती है तो दर्शनार्थियों की कठिन सेवा भी, परन्तु उससे किसी के भी हृदय में उसके प्रति कोई अनुराग क्यों नहीं उत्पन्न होता? उसका शरीर अवश्य अपरूप है- कुबड़ा है और काला है, वास्तव में दर्शनीय नहीं। फिर भी क्या शरीर ही सब कुछ है?

यों सोचते-सोचते कुब्जा दासी के मन में यही भाव समा जाता कि शरीर ही सब कुछ है- काश कि उसका शरीर भी अतिशय स्वरूपवान और सुन्दर बन जाये। रात-दिन वह ऐसी ही कल्पनाओं में डूबी रहती।

कल्पनाएँ आकांक्षाओं का रूप लेने लगी और आकांक्षाएँ उद्दाम हो उठी। वह सतत प्रयास भी करने लगी कि कैसे भी उसके वर्तमान स्वरूप का कायापलट हो जाय।

वास्तव में कुब्जा के भाग्य ने नया मोड़ ले लिया। देव मन्दिर के दर्शनार्थियों में एक बार गांधार का एक सद्गृहस्थ आया। वह देवभक्त था और कुब्जा दासी की सेवा से अतीव प्रसन्न हो गया। उसके पास एक स्वर्णगुलिका थी, जिसके खा लेने पर कुरूप से कुरूप व्यक्ति भी सुन्दरतम् स्वरूप वाला हो सकता था। उसे कुब्जा की कुरूपता पर दया आ गई और उसने वह स्वर्णगुलिका जाते समय कुब्जा दासी को दे दी। अंधे को अंखों के सिवाय और क्या चाहिये, कुब्जा को असीम हर्ष हुआ। उसकी आकांक्षाएँ साकार हो उठी उसका मन झूम-झूम नाचने लगा। आकांक्षा पूर्ति मे फिर विलम्ब क्यों? वह स्वर्णगुलिका खा गई और जैसा कि अपेक्षित था, कुब्जा और कुरूपा दासी अद्भूत सौन्दर्य की स्वामिनी बन गई। तब वह स्वर्णगुलिका कहीं जाने लगी।

किन्तु स्वर्णगुलिका दासी के उस अद्‌भूत सौन्दर्य का क्या मूल्य था वहाँ पर? उदायन राजा ऐसा चरित्रनिष्ठ था कि वह भूलकर भी किसी पर नारी की ओर देखता तक नहीं था। उसके सिवाय उसकी दासी की ओर देखने का था कि कोई दुस्साहस दिखाने का किसका साहस को सकता था? लुभावना रूप पाकर भी वह दासी किसी को वहाँ पर लुभा नहीं सकी। आखिर अतृप्त रूप शान्त कहाँ बैठा रहता है?

कुब्जा ने गठजोड़े मिलाये और डोर डाले अवन्ती के राजा चंडप्रद्योत पर। वह जानती थी कि सुन्दरता की रक्षा शक्तिशाली ही कर सकता है और शक्तिशाली के पास रहने पर वह एक ही स्थान पर अपना सम्पूर्ण जीवन अतीव सुख से व्यतीत कर सकेगी। चन्द्रप्रद्योत एक ओर रसिक एवं कामी था तो दूसरी ओर अतीव शक्ति सम्पन्न भी कि किसी से भी टक्कर ले सके। चन्द्रप्रद्योत और स्वर्णगुलिका के बीच तब गुप्त सन्देशों का आदान-प्रदान होने लगा और अवन्तीराज उस स्वर्गलोक की अप्सरा सी सुन्दरी को प्रापत कर लेने के लिये आकुल-व्याकुल हो उठा। उसने स्वर्णगुलिका को स्वयं चुरा लेने का निश्चय किया।

महाराज! मुझे आपको यह संवाद सुनाते हुए शक्तिशाली अवन्तीराज चंडप्रद्योत के कायरतापूर्ण व्यवहार

पर अतीव लज्जा का अनुभव हो रहा है- प्रतिहार प्रातः होते ही महाराजा उदायन के समक्ष उपस्थित हुआ।

संवाद क्या है- यह तो बताओ।

बताया गया है कि अर्धरात्रि में राजा चंडप्रद्योत अपने अनलगिरि हाथी पर चढ़कर चुपचाप यहाँ आया और एक चोर के समान वीतभयपत्तन में घुसकर कुब्जा दासी को चुराकर वापिस भाग गया- प्रतिहार ने विस्तार से रात में घटी घटना का विवरण महाराजा को सुनाया।

राजा उदायन धर्मनिष्ठ और शान्ति प्रिय अवश्य था, किन्तु कायर नहीं था, अतः एक समकक्ष राजा के उसी के साथ ऐसे कायरतापूर्ण व्यवहार पर उदायन का क्रोध भड़क उठा। चोरी और वह भी एक दासी की- वह भी एक राजा के द्वारा? यह अक्षम्य अपराध है। भीतर उमड़ता हुआ क्रोध बाहर फूटा, उसने आदेश दिया- जाओ, सेनापति को बुलाओ।

सेनापति के आने पर उदायन ने सारी घटना सुनाते हुए कहा- उस दुष्ट को उसकी दुष्टता का क्या दंड दिया जाना चाहिये और कैसे?

महाराज क्षमा करें, यह चंडप्रद्योत की दुष्टता भी है तो उद्वत्तता भी। आप जैसे वीरवर एवं प्रतापी नरेश का उसने अप्रत्यक्ष रूप से अपमान किया हैं। इसका दंड उसकी हार के अलावा अन्य नहीं हो सकता और उसे युद्ध में ही परास्त करना होगा।

सेनापति, तुम ठीक कहते हो। एक दासी को चुराकर निश्चय ही उसने एक जघन्य कृत्य एवं अक्षम्य अपराध किया है। उसके पास तुरन्त दूत के साथ सन्देश भिजवा दें कि या तो वह कुब्जा दासी को तुरन्त लौटा दे अन्यथा युद्ध के लिये तैयार हो जाये।

राजन्! दूत को मैं आज ही भिजवा देता हूँ, किन्तु मुझे कोई आशा नहीं है कि चंड प्रद्योत जैसा अन्यायी और अहंकारी राजा यों ही रास्ते पर आ जायेगा।

महाराजा उदायन अन्ततोगत्वा अपने दश सामन्त राजाओं के साथ एक विशाल सेना लेकर चंडप्रद्योत को ललकारने के लिये अवन्ती की ओर चल पड़ा। सिन्धु सौवीर से अवन्ती का मार्ग लम्बा और रेगिस्तानी था, उस पर ग्रीष्म ऋतु की ऊष्णता का तो कहना ही क्या? ज्येष्ठ मास की चिलचिलाती हुई धूप में भी वह विशाल सेना उत्साहपूर्वक मालव धरा पर कूच करती हुई अवन्ती के रणक्षेत्र में जाकर डट गई। राजधानी उज्जयिनी को चारों ओर से घेर लिया गया। चंडप्रद्योत की सेना भी सामने हो गई और रणभेरी बजने ही वाली थी कि युद्ध में होने वाले नरसंहार की कल्पना करके उदायन का अन्तःकरण दया-द्रवित हो उठा। वह मोर्चे से कुछ आगे बढ़ा और उसने चंडप्रद्योत को ललकारा। चंडप्रद्योत भी

आगे आया, तब उदायन ने कहा- ओ चंडप्रद्योत, शत्रुता तो मेरे और तुम्हारे बीच है, फिर सेना का और नागरिकों का क्रूर संहार क्यों किया जाये? क्यों नहीं हम दोनों ही किसी भी प्रकार के द्वन्द युद्ध से हार-जीत का निर्णय निकाल लें? क्या तुम मेरे इस प्रस्ताव से सहमत हो?

चंडप्रद्योत को भी वह प्रस्ताव व्यवहारिक लगा, लेकिन उसे द्वन्द युद्ध से भय भी हुआ। फिर गहराई से सोच-विचार कर उसने कहा- मुझे आपका प्रस्ताव स्वीकार है। द्वन्द युद्ध कौनसा किया जायगा- इसका निश्चय कर लीजिये और वह अभी ही कर लिया जाय।

तुम ही बता दो चंडप्रद्योत, जो भी तुम्हें पसन्द हो। उदायन ने उसे ही इस पसन्द की छूट दी।

यदि आप सहमत हों तो अपने बीच रथयुद्ध हो जाय- चंडप्रद्योत ने पूछा और रथयुद्ध पर दोनों ही सहमति हो गई।

परन्तु दुष्ट और दंभी राजा स्वयं की सहमति का भी कहाँ निर्वाह करता है? बाद में चंडप्रद्योत ने सोचा कि वह उदायन के साथ रथयुद्ध में कतई विजयी नहीं हो सकेगा। वह तभी जीत सकता है जब उसके अजेय हाथी अनलगिरि का बल उसे प्राप्त हो। अतः गजयुद्ध का एकतरफा निर्णय ले, अपने अनलगिरि पर आरूढ़ हो द्वन्द युद्ध हेतु, रणक्षेत्र में उतर आया। उदायन

को आश्चर्य हुआ कि अपनी ही पसन्द के विपरीत यह चंडप्रद्योत गजारूढ़ क्यों? उदायन ने उसकी इस मनमानी की भी कोई चिन्ता नहीं की और वह गजयुद्ध के लिये ही तैयार हो गया।

उदायन ने विद्युत् वेग से अपने रथ को घुमाया और देखते-देखते प्रबल बाण वर्षा से अनलगिरि के चारों पांव बेध दिये। वे मोटे-मोटे पांव छलनी जैसे छिद गये और हाथी लहूलुहान होकर भूमिसात हो गया। चंडप्रद्योत भयभीत होकर भागने लगा किन्तु उदायन के सैनिकों ने उसे पकड़ लिया और अपने महाराजा के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। वह बन्दी बना लिया गया था।

उदायन ने गर्जना की- चंडप्रद्योत, एक राजा होकर तुमने ऐसा ओछा काम किया और वह भी कायरों की रीति से। क्या तुम्हें लज्जा नहीं आई? तुमने अपराध किया है- इसके दंड से तुम बच नहीं सकते। तुम मेरे राज्य के कारागार में जीवनभर बन्दी बने रहोगे। अब तुम्हें वह स्वर्णगुलिका दासी तो प्राप्त नहीं होगी, किन्तु तुम्हारे ललाट पर "मम दासीपति" शब्द गुदवा देता हूँ कि तुम्हारी और दुनिया की याद में दासी बराबर बनी रहे।

बन्दी चंडप्रद्योत के माथे पर शब्द "मम दासीपति" गुदवा दिया गया और उसे साथ ले लिया

गया। अवन्ती में राजा उदायन का शासन स्थापित हो गया।

विजय का सेहरा बांधकर राजा उदायन और उसकी विशाल सेना ने तब अपनी राजधानी वीतभय की ओर प्रस्थान किया।

वर्षाकाल प्रारंभ हो चुका था और शीघ्र ही पर्युषण पर्व का समय निकट आ गया। उदायन श्रमण भगवान महावीर का अनुयायी व श्रावक था, अतः उसने इस पर्व में एक स्थान पर ठहरकर धर्माराधना करने का निश्चय किया। सेना ने एक स्वच्छ एवं सुरक्षित स्थान देखकर अपना पड़ाव डाल दिया। यह स्थान दशपुर (आज का मन्दसौर) के पास था। उदायन वहाँ पौषध, व्रत, स्वाध्याय एवं आत्मचिंतन करने लगा। तभी पर्व का अन्तिम दिन संवत्सरी महापर्व आ गया।

उदायन समता में विश्वास रखता था। वह विजेता था और चंडप्रद्योत उसका बन्दी, किन्तु जहाँ तक परस्पर में व्यवहार करने का प्रश्न था, उदायन अपने बन्दी के साथ समानता एवं सम्मान का व्यवहार करता था। सदा उसे साथ में लेकर भोजन करता था। उस दिन संवत्सरी होने से उदायन ने उपवास रखा तो अपने रसोईये को उसने कहा कि वह चंडप्रद्योत की पसन्द के अनुसार भोजन तैयार करे।

रसोईया चंडप्रद्योत के पास गया और बोला- उदायन महाराज ने आज्ञा दी है कि आज आपकी ही पसन्द से भोजन तैयार किया जायेगा, अतः आप जो बता दें, वही भोजन मैं तैयार करूं।

उदायन महाराज ने आज ही ऐसी आज्ञा क्यों दी है, पाकशास्त्री- चंडप्रद्योत ने पूछा। मन में शंका और होठों पर मुस्कान लाकर।

महाराज के आज संवत्सरी महापर्व के होने से उपवास है। वे आज भोजन नहीं करेंगे। आज आपको अकेले ही भोजन करना है- रसोईये ने कारण बताया। चंडप्रद्योत आशंकित हो गया कि कहीं यह कोई षड्यंत्र तो नहीं है उसके विरुद्ध- वह सावधान हो गया। बाहर से हंसते हुए उसने कहा- जब महाराज के उपवास रहेगा तो मैं कैसे खा पाऊंगा? तुम्हें मेरे लिये भोजन बनाने की आवश्यकता नहीं, मैं भी उपवास करूंगा। रसोईये ने यह संवाद उदायन को पहुँचाया और उसे प्रसन्नता हुई कि चंडप्रद्योत भी धर्म की दिशा में मुड रहा है। उसे उससे अनुराग भी हुआ।

सायंकाल उदायन ने सांवत्सारिक प्रतिक्रमण किया तथा अपने वर्षभर के अपराधों के लिये संसार के सभी जीवों से क्षमायाचना की। उसने सोचा- घृणा पाप से, पापी से क्यों लवलेश? अब चंडप्रद्योत जब अपनी

दुष्टता भी छोड़ने को तैयार हो रहा है तो उसे प्रोत्साहन देना चाहिये। वैसे भी मेरी कभी उसके प्रति कोई दुर्भावना नहीं रही, फिर भी आज उसके साथ मुझे हृदय से क्षमायाचना कर लेनी चाहिये। उससे मेरा कोई वैर नहीं, वह तो मेरा मित्र है। तब वह चंडप्रद्योत के पास गया और बोला- चंडप्रद्योत, आज संवत्सरी महापर्व पर मैंने समस्त जीवों से क्षमायाचना की है, अतः मेरे किसी व्यवहार से तुम्हें क्लेश पहुँचा हो तो तुमसे भी क्षमायाचना करता हूँ। तुम मुझे क्षमा कर देना।

चंडप्रद्योत ठहठहाकर हंस पड़ा, बोला- वाह महाराज, मेरा राज्य आपने ले लिया, मुझे बन्दी बना दिया, मेरी ललाट पर "मम दासी पति" लिखवा दिया- फिर भी आपको लगता है कि शायद मुझे क्लेश पहुँचा हो। क्या मजे की बात है? यह आपकी कैसी क्षमायाचना है जो बन्दी को बन्दी ही बनाये रखकर सफल होना चाहती है?

उदायन विचार में पड़ गया- यह चंडप्रद्योत सही ही तो कह रहा है। सच्ची क्षमा तो तभी होगी जब इसे मुक्त करके इसका राज्य वापिस लौटा दिया जाये। उसने क्षमापना का वास्तविक निर्णय ले लिया। वह दूसरे दिन पौषध पारकर चंडप्रद्योत के पास पहुँचा और उसे गले लगा लिया, बोला- मित्र, मैंने तुम्हें सच्चे मन से

क्षमा कर दिया। तुम अब मुक्त हो और अवन्ती, नरेश हो। तब उदायन ने उसकी ललाट पर स्वर्णपट्ट बांधा और उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया और स्वर्णगुलिका को दहेज में दे दिया।

यह उदायन की दूसरी विजय थी और सर्वोच्च विजय। क्षमादान से जो विजय मिलती है, वह हर विजय से ऊपर होती है।

प्रश्न व्याकरण सूत्र स्रोत- निशीथ सूत्र-चूर्णि

सार- क्षमा वीरों का भूषण है तथा क्षमादान वीरों का सच्चा धर्म।

❖ ❖ ❖

गुफा में अंधकार भी, प्रकाश भी

सखि, यों खिन्नवदना कब तक बैठी रहोगी? जो होना था, वह हो चुका। अब तुम्हें क्या करना है- इसका निर्णय लो- राजमती की सहेली ने उसे वह सबकुछ भूल जाने का सुझाव दिया जो उसके विवाह के अवसर पर घटित हुआ था।

द्वारिका के राजकुमार नेमि, बारात सजाकर उग्रसेन राजा की पुत्री राजमती के साथ विवाह करने के लिये आये थे। उनका रथ तोरण तक पहुँच चुका था तभी सबने उनके रथ को वापिस फिरते और द्वारिका की ओर लौटते हुए देखा। बारात के नायक समुद्रविजय, श्रीकृष्ण आदि हैरान थे तो वधु पक्ष के लोग परेशान। यह क्या हो गया? पशु-पक्षियों का मांसाहार हेतु वध तो क्षत्रियों में होता ही आया है, फिर नेमि राजकुमार ही इतने विक्षुब्ध क्यों हो गये? वे तो दूल्हे थे और दूल्हा ही विवाह छोड़कर चला गया तो अब दुल्हन का क्या होगा?

तुम मुझे क्या करने को और क्या भूलने को कहती हो? राजमती का स्वर विगलित था और कंठ अवरूद्ध।

राजुल, नेमिनाथ तो चले गये। वे तुम्हारे पति होने वाले थे, लेकिन हुए नहीं। तुम उन्हें भूल जाओ। तुम जैसी लावण्यवती के लिये क्या पतियों का अभाव है? तुम नये पुरुष का वरण करो और अखेद होकर अपने जीवन को सुखमय बनाओ। उस सहेली ने अपने सुझाव का स्पष्टीकरण दिया।

राजमती का रोष उमड़ पड़ा। वह आवेशपूर्ण भाषा में बोली- तुम स्त्री होकर भी स्त्री हृदय को नहीं समझ पा रही हो। एक बार जिस पुरुष को स्त्री ने पति रूप में मान लिया, क्या वह उस मान्यता को झुठला दे? तुम चाहती हो कि मैं राजकुमार नेमि के स्थान पर किसी अन्य पुरुष को अपने हृदय में आसन दे दूं- कितना निकृष्ट सुझाव है तुम्हारा?

इधर रथनेमि राजमती पर आसक्त हुआ। अतः वह हमेशा उसे फल, पुष्प, अलंकार आदि प्रेषित करने लगा। राजमती यह सोचती रही कि अपने भाई के स्नेह के फलस्वरूप वह मुझे यह सब भिजवा रहा है।

एक बार रथनेमि ने राजीमति से कहा- हे सुनयना, तुम दुःख मत करो। कदाचित् रागी-रहित

होकर नेमिकुमार ने तुम्हारा त्याग कर दिया है, पर उससे क्या हुआ? तुम मुझे पति रूप में स्वीकार कर ले, जिससे हमारा जन्म और जीवन-दोनों सफल बन जाये।

यह सुनकर राजीमति अवाक रह गयी। वह विचारने लगी- यद्यपि यह कुलवान है, पर राग-दशा के कारण काम का भूत इस पर सवार है। इसे सामान्य वचनों से समझाया नहीं जा सकता।

उसे प्रबोधित करने के लिये राजीमति ने पयस मंगवाया। राजीमति हेतु रथनेमि स्वयं सुगन्धित पयः का कटोरा लेकर उपस्थित हुआ। पहले दूध का पान किया, फिर मदनफल सूँघकर उसी कटोरे में वमन कर दिया। फिर रथनेमि से कहा- इस वमन किये हुए पयः को तुम पी लो।

रथनेमि ने कहा- इसे मैं कैसे पी सकता हूँ?

तब राजमति ने हँसकर कहा- क्या तुम यह समझते हो कि वमन किये हुए को पीया नहीं जाता? तो फिर नेमिनाथजी ने तो मुझे भी वमन कर दिया है। मुझ वमन की हुई को तुम क्यों भोगना चाहते हो?

रथनेमि से कोई उत्तर देते नहीं बना। लज्जा से आरक्त मुख को लेकर वह बाहर चला गया। उस कक्ष से वह बाहर क्या गया कि संसार से ही बाहर हो गया। श्रमण बनकर वह संयम और तप की आराधना में जुट गया।

राजमति तो वह प्रेरणा बन गई थी, जिसने रथनेमि को जगा दिया। तो क्या वह प्रेरणा स्वयं सुप्त और शिथिल रह सकती थी? जिस पथ पर उसके हृदय के अधिपति चल पड़े हैं, वह पथ ही उसका पाथेय है। अंधकार में उसे पड़े नहीं रहना है, अनन्त प्रकाश की खोज में निकल पड़ना है। वह भगवान नेमिनाथ की अनुगामिनी श्रमणी बन गई और अनेकानेक आर्याओं की नायिका भी।

एक बार संवाद मिला कि भगवान नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) रैवत (गिरनार) पर्वत पर विराज रहे हैं। साध्वी राजमति अपनी शिष्याओं सहित उनके दर्शनार्थ पर्वत पर चढ़ने लगी। मार्ग में अकस्मात् प्रबल वेग से आंधी उठी और मूसलाधार वर्षा होने लगी। इस प्राकृतिक विपदा में सभी आर्याएँ तितर-बितर हो गई और साध्वी राजमति भी अकेली पड़ गई। वायु और वर्षा के वेग से व्यथित होकर उसने समीप में दिखाई दी एक गुफा में प्रवेश किया।

गुफा में चारों ओर घोर अंधकार फैला हुआ था। हाथ से हाथ भी न सूझता था। उस गुफा को एकान्त और निरभ्र जानकर राजमति ने अपने गीले वस्त्रों को सूखने के लिये नीचे भूमि पर फैला दिया।

उसी गुफा के एक कोने में मुनि रथनेमि ध्यान

कर रहे थे। उन्हें कोई आहट नहीं हुई थी कि गुफा में किसी ने प्रवेश किया है। तभी अचानक गहरे काले आकाश में बड़ी तेजी से बिजली चमकी। उस चमक की एक लहर पल भर को उस गुफा में भी फैली। राजमती तो निःशंक थी, किन्तु बिजली की उस चमक में मुनि रथनेमि को साध्वी राजमति की सर्वथा वस्त्र-रहित देह दिखाई दे गई। उस रूप-लावण्य से रथनेमि की आँखें चुंधिया गई।

क्षय और उपशय का अन्तर इस प्रसंग में ज्ञातव्य है। एक धधकता हुआ अंगारा शीतल जल से स्पर्श से पूरी तरह जब बुझ जाता है तो वह अग्नि का क्षय कहलाता है। किन्तु जब उसी अंगारे को राख से ढ़क देते हैं तो उसकी ऊष्णता छिप गई लगती है, लेकिन अवसर पाते ही वह फिर से धधक उठती है। यह होता है उपशय अर्थात् दब जाना, नष्ट न होना।

निराश होकर रथनेमि श्रमण तो बन गये, किन्तु अपनी वासना का क्षय न कर सके। उस समय उनकी वासना उपशमित मात्र हुई। वही उपशमित वासना निर्वस्त्र देह और सर्वथा एकान्त देखकर फिर से भड़क उठी। जैसे हवा का तेज झौंका लगने पर राख के नीचे दबा अंगारा पहले से भी अधिक ऊष्णता के साथ भभक उठता है उसी प्रकार गुफा के उस अंधकार में रथनेमि

की सुप्त वासना अति उद्दाम बन उठी। ऐसा लगा, जैसे उस गुफा का अंधकार अधिक काला होकर सब ओर कालिख पोत रहा हो। उस वासना के आवेग ने उनकी तपस्या को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और प्रणय याचना करते हुए वे बोल उठे- प्रिये, मैं तुम्हारा ही रथनेमि हूँ।

राजमति के लिये तो डरने की ही बात थी। वह चौंक पड़ी- क्या इस निर्जन गुफा में कोई है भी? स्वर पहिचाना तो आशंका मन्द हुई। उसने जल्दी-जल्दी भूमि पर फैले हुए वस्त्रों को समेटा और अपने शरीर पर ध ारण किया।

रथनेमि ने सोचा- उसकी याचना राजमति ने सुनी नहीं। अत: वह अपना सारा बल एकत्रित करता हुआ-सा गिड़गिड़ाते हुए बोला- प्रिय राजुल, प्रकृति या नियति ने यहाँ हमारा फिर से संयोग कराया है, जिसका अर्थ स्पष्ट है कि वह हमें जोड़ देना चाहती है। आओ राजुल, फिर से हम संसार में लौट चलें और इस सौन्दर्य तथा यौवन का भरपूर आनन्द उठावें।

राजमति की निखरी हुई तेजस्विता मुखर हो उठी- रथनेमि। क्या तुम यह सब बोलने से पहले क्षणभर को भी यह नहीं सोच पाये कि तुम दीक्षित हुए हो और श्रमण हो? वासना के अंधड़ में बहकर क्यों तुमने अपनी संयम साधना को इस तरह भ्रष्ट करने का

निश्चय कर लिया है? अपने आप को समझो, अपनी स्थिति को पहिचानो और साधना मार्ग पर स्थिर रहो।

मेरा चित्त अत्यन्त चंचल हो उठा है, तुम्हें देखकर, राजुल? अब वह संयम में पुनः स्थिर नहीं हो सकेगा। तुम्हीं बताओ कि इस मनःस्थिति में मैं क्या करूं? रथनेमि का कंठ-स्वर कांप रहा था।

किन्तु राजमति का स्वर विपुल आत्मबल के साथ निष्कम्प और स्थिर ही नहीं, प्रतिबोधक भी बन गया था। वह शान्त और उदात्त स्वर में बोली-

तुम्हें मैं अगन्धन जाति के सर्प का दृष्टान्त दूं, जो अपने जातीय हठ से जाज्वल्यमान अग्नि में गिरकर अपने प्राणों की बलि दे देने के लिये तत्पर हो जाता है, किन्तु वह यह इच्छा कदापि नहीं करता कि वमन किये हुए विष को फिर से ग्रहण कर ले।

हे मुनि! विषय भोगों को विष के समान समझ कर तुम उनका त्याग कर चुके हो, परन्तु खेद है कि वमन किये हुए उन्हीं कामभोगों को तुम अंगीकार करके अपनी साधना को नष्ट कर देने पर तुले हुए हो।

जागो श्रमण, अपने आत्मस्वरूप को पहिचानो। अपने असंयम रूप जीवन के लिये जो तुम वमन को पुनः पीना चाहते हो इससे तो अच्छा है कि तुम्हारी मृत्यु हो जाये।

ओ अपयश के पात्र, जरा विचार करो- मैं उग्रसेन राजा की पुत्री हूँ और तुम राजा समुद्रविजय के पुत्र तथा भगवान नेमिनाथ के अनुज हो, अतः अपनी गरिमा को समझो और पुनः संयम में निश्चल बन जाओ।

यदि हड़ वृक्ष (अधिक शाखा भार किन्तु निर्बल मूल वाला) के समान तुम बने रहोगे और ग्रामानुग्राम विहार करते हुए सुन्दर स्त्रियों को देखोगे, तो पतितात्मा बन जाओगे। अतः संयम के अंकुश को कठिन बनाओ और अपने मदोन्मत्त मन को सदा के लिये अपने वश में कर लो। तब तुम्हारा मन अवश्य ही धर्म में सुस्थिर हो जायेगा।

हे श्रमण! मैं तुम्हें 'पुरुषोत्तम' विशेषण से विभूषित करना चाहती हूँ कि तत्त्वज्ञाता, विचक्षण पंडित पुरुष भोगों से विरक्त होते समय तुम्हारे आदर्श को याद करें।

इस वीरोचित आह्वान से अनुप्रेरित होकर मुनि रथनेमि संयम में सदा के लिये सुस्थिर हो गये। गुफा में सर्वत्र प्रकाश व्याप्त था।

स्रोत- दशवैकालिक सूत्र उत्तराध्ययन

सार- परित्यक्त कामभोगों की पुनः वांछा भी नहीं करनी चाहिये।

❖ ❖ ❖

बैलों की जोड़ी के लिये

वर्षाऋतु का समय था। अपने राजप्रसाद की ऊपरी मंजिल के गवाक्ष में बैठे हुए राजा श्रेणिक और रानी चेलना प्रेमालाप कर रहे थे। चारों ओर जल ही जल दृष्टिगोचर हो रहा था। नीचे नदी में बाढ़-सी आ रही थी। ऊपर आकाश में श्यामवर्णी मेघ छाये हुए थे और हल्की बूंदाबांदी हो रही थी। वातावरण सहज सुहावना था।

अकस्मात् चेलणा रानी की दृष्टि नदी की तेज बहती हुई धारा पर जम गई। धारा के मध्य में एक ऊपर उठा हुआ मिट्टी का दूहा था और उस पर बैठा हुआ एक वृद्ध पुरुष लकड़ियाँ निकाल रहा था। रानी को उसे देखकर अमित आश्चर्य हुआ- क्या इतना ही गरीब है यह वृद्ध पुरुष, जो दिनभर की मजदूरी से भी अपनी दो रोटी का जुगाड़ नहीं कर सकता है, जो आधी रात में भी वर्षा में भीगते हुए इतनी खतरेभरी जलधार में लकड़ियाँ

निकाल रहा है। क्या महाराजा की सम्पन्न राजधानी राजगृही में इतनी दरिद्रता है और महाराजा को उसका ध्यान ही नहीं? यह तो हृदय में खलने लायक तथ्य है। वृद्धत्व और इतना श्रम- फिर भी उदर निर्वाह नहीं- यह कैसी विचित्र दुरावस्था है?

बात करते-करते कहाँ खो गई हो, महारानी जी? मैं तो आपका मुख देखता ही रह गया हूँ- महाराजा श्रेणिक ने चेलना से विनोद किया।

किन्तु चेलना की मुखाकृति पर गंभीरता छाई रही- वहाँ विनोद की हास्य रेखा नहीं उभरी। उसी गंभीरता के साथ वह बोली- महाराज, नदी की जलधारा के मध्य में तो देखिये, वह क्या है?

श्रेणिक भी सचमुच गंभीर हो उठे, वे उधर ही ध्यानपूर्वक देखने लगे। बिजली रह-रहकर चमक रही थी और उस में वही दृश्य देखकर राजा भी स्तम्भित हो गये। क्या उसका शासन इतना दायित्वहीन हो गया है जो ऐसे अतिशयवृद्ध को भी ऐसी भयंकर वर्षा की रात्रि में लकड़ियाँ चुनने को विवश होना पड़ा है? उस वृद्ध को देखकर यकायक वे कम्पित हो गये। उन्होंने रानी के प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही प्रतिहार को आवाज लगाई। उसके आने पर कहा- देखो, वह एक वृद्ध नीचे की जलधार में लकड़ियाँ चुन रहा है। वह कौन है? कहाँ

रहता है? पूरी जानकारी करके उसे प्रातः मेरे समक्ष प्रस्तुत करो।

जो आज्ञा- कहकर प्रतिहार चला गया।

भावुकता भरे शब्दों में श्रेणिक ने चेलना से कहा- महारानी, वास्तव में मुझे यह दृश्य दिखाकर तुमने मेरी आँखें खोल दी है। मैं अब तक यही समझता रहा हूँ कि मेरी राजधानी सर्वथा सुसम्पन्न है तथा यहाँ निवास करने वाला प्रत्येक नागरिक सुखी और प्रसन्न। इस वृद्ध और इसकी दुर्दशा को देखकर तो मैं चिन्तित हो उठा हूँ। कल ही मैं शासन की सम्पूर्ण प्रक्रिया की समीक्षा करूंगा।

फिर राजा और रानी अपनी-अपनी शय्याओं पर लेट गये, किन्तु नींद किसी को नहीं आई। राजा शासन की कमियों पर चिन्तापूर्वक सोचते रहे तो रानी उस वृद्ध के प्रति करुणा की धारा में बहती रही। समस्या एक ही थी- धनकुबेरों की महानगरी राजगृह में यह कैसा नंगा तथ्य सामने आया है कि एक वृद्ध पुरुष दिन के कठिन श्रम के बाद भी इस रात्रि में उदरपूर्ति हेतु लकड़ियाँ चुनने पर मजबूर है।

प्रातः राजसभा जुड़ी। राजा श्रेणिक सिंहासन पर विराजे और रानी चेलना उनके पास बैठी। मंत्री और उच्चाधिकारियों ने भी अपने-अपने आसन ग्रहण किये।

सभी उत्सुक थे कि महाराज कौन-सी गहन समस्या सबके समक्ष रखने वाले हैं, जिसका समाधान संयुक्त विचार-विमर्श में खोजा जायेगा?

तभी प्रतिहार रात में राजा-रानी द्वारा देखे गये उस वृद्ध पुरुष को अपने साथ लेकर राज्य-सभा में उपस्थित हुआ।

महाराज, रात को नदी की बीच जलधारा में जो वृद्ध पुरुष लकड़ियाँ चुन रहा था- वह यही है। प्रतिहार ने निवेदन किया।

श्रेणिक एकटक उस वृद्ध पुरुष की ओर देखने लगे। गत रात्रि में अंधकार में उन्हें आकृति ही मुख्य रूप से दिखाई दी थी, उसकी वेशभूषा की बारीकी नहीं। सामने खड़े इस वृद्ध का वृद्धत्व तो दयनीय नहीं। आकृति भी गोरी, सुन्दर और दर्शनीय है। वस्त्र भी साधारण नहीं- मूल्यवान रेशम से बने हैं, जो हवा के मन्द-मन्द झौंकों में लहरा रहे थे। कानों में स्वर्ण कुंडल वह पहने हुए था जिनमें जड़ी हुई अनमोल मणियाँ दमक रही थी। हाथों की अंगुलियों में रत्नजडित अंगूठियाँ थी।

मन ही मन राजा को निश्चय हो गया कि प्रतिहार ने अवश्य ही भूल की है। ऐसा सम्पन्न पुरुष भला काली अंधियारी बरसाती रात में नदी पर मात्र

लकड़ियाँ चुनने क्यों जायेगा? जिस गरीब, जर्जर एवं दु:खी वृद्ध पुरुष की कल्पना मूर्ति उनके मनमानस में उभरी है, वह यह कदापि नहीं हो सकती। राजा ने कृत्रिम रोष के साथ पूछा- क्या यह वही पुरुष है जिसे मैंने तुम्हें रात को ऊपरी गवाक्ष से दिखाया था? मुझे लगता है कि वह पुरुष यह नहीं है। तुमने अवश्य भूल की है।

प्रतिहार के उत्तर देने से पहले ही वह वृद्ध पुरुष स्वयं ही बोल पड़ा राजन्, प्रतिहार ने कोई भूल नहीं की है। मैं ही विगत रात्रि में नदी की बीच जलधारा में लकड़ियाँ चुन रहा था।

आश्चर्य से श्रेणिक की आँखें फटी की फटी रह गई। यह सुसम्पन्न पुरुष ऐसा कठिन और जोखिमभरा परिश्रम क्यों कर रहा था? यह तो वास्तविक समस्या से भी विचित्र समस्या सामने आ गई है।

तुम तो कोई सेठ दिखाई देते हो, श्रमिक नहीं? राजा ने पूछा।

आपका अनुमान सत्य है महाराज, मैं एक सेठ हूँ किन्तु इस समय एक ऐसे अभाव से ग्रस्त हूँ कि मुझ जैसा गरीब दूसरा नहीं होगा। इसी रात्रि में मुझे नदी की बीच जलधारा में लकड़ियाँ चुनने जैसा कठिन परिश्रम करना पड़ता है। जब तक मेरा यह अभाव पूरा नहीं

होता, मुझे कठिन परिश्रम करते ही रहना होगा। इसमें मैं तन-मन से जुटा हुआ हूँ- सामने खड़े पुरुष ने राजा को अपनी बात बताई।

परन्तु राजा को फिर भी विश्वास नहीं हो पा रहा था, अनायास उनके मुँह से फिर निकल पड़ा- सचमुच तुम्हीं रात को लकड़ियाँ चुन रहे थे? तुमने मूल्यवान आभूषण और वस्त्र धारण कर रखे हैं, फिर ऐसा क्या अभाव है जिसे पूरा करने के लिये तुम ऐसा कठिन परिश्रम कर रहे हो? तुम अपना अभाव मुझे बताओ, मैं उसे राज्य से पूरा करवाये देता हूँ। वस्तुतः तो मैं दया द्रवित हो गया था तुम्हारी रात को देखी दुर्दशा पर।

आप मेरे अभाव को पूरा नहीं करवा सकेंगे महाराज, वह तो मुझे स्वयं को ही करना होगा- उस सेठ ने उत्तर दिया।

तुम अपना अभाव बताओ तो सही। हमारे राज्य में क्या कमी है?

राजन्, मुझे बैलों की जोड़ी पूरी करनी है। एक बैल तो मेरे पास है, दूसरा जुटाना है जिससे जोड़ी पूरी हो सके। मेरे पास जितनी धन-सम्पदा थी, वह उस पर लगा चुका। अब जोड़ी पूरी करने के लिये ही कठिन परिश्रम कर रहा हूँ और रात को नदी की बीच जलधारा

में इसी कारण लकड़ियाँ चुनने जाता हूँ कि अक्सर मुझे चन्दन की लकड़ियाँ मिल जाती है, जिन का अच्छा मूल्य मिल जाने से यथासाध्य शीघ्र जोड़ी पूरी होने की मेरी आशा बनी हुई है।

श्रेणिक के विचार आश्चर्य की नई-नई परतों में उलझते जा रहे थे। इतना सम्पन्न कि मणियाँ और रत्न पहिने हुए हैं और मात्र एक बैल नहीं जुटा सकता। ऐसा कैसा बैल चाहिये इसे? वे बोले- भाई, तुम मेरी वृषभशाला में जाओ। वहाँ एक से एक बढ़कर बैल बंध हुए हैं। तुम्हें जैसा भी जो बैल चाहिये, वह तुम ले लो। मैं चाहता हूँ कि तुम मेरी राजधानी में किसी भी प्रकार से अभावग्रस्त न रहो।

वह सेठ राजपुरुषों के साथ राजकीय वृषभशाला में गया और सब तरफ घुमकर वापिस राजा के समक्ष लौट आया। राजा ने पूछा- पसन्द आ गया कोई बैल तुम्हें?

नहीं महाराज, मुझे चाहिये वैसा वहाँ पर कोई बैल नहीं है- सेठ बोला।

क्या कहा तुमने? हमारी वृषभशाला में एक से एक सुन्दर और बलिष्ठ बैल बंधे हुए हैं, तुम्हें एक भी पसन्द नहीं आया। आखिर कैसा बैल चाहिये तुम्हें?

महाराज, वह तो स्वयं देखने से ही ज्ञात हो

सकेगा। मेरे पास जोड़ी का एक बैल तैयार है, दूसरे की दरकार है। कृपा करके आप मेरे घर पर पधारिये, बैलों के नमूने देख लीजिये और तब आप निश्चय कीजिये कि क्या आप मेरे अभाव की पूर्ति कर सकेंगे?

सेठ के वैसे अहं वचन सुनकर श्रेणिक को बुरा भी लगा तो उसकी उत्सुकता भी बढ़ी कि ऐसे अनोखे बैल को तो देखना ही चाहिये जिसकी जोड़ी का दूसरा बैल इस सेठ को हमारी भरी-पूरी वृषभशाला में भी नहीं मिला है। इसकी गर्वोक्ति झूठी भी हो सकती है जिसकी जांच तो की ही जानी चाहिये। पूरा का पूरा मामला ही राजा को अतीव आश्चर्यजनक लग रहा था, अतः अपनी उत्कंठा को शान्त करने के लिये राजा ने उसी समय सेठ के घर जाने का निश्चय कर लिया। रानी चेलना ने भी साथ चलने की इच्छा व्यक्त की। राजा ने मंत्री अभयकुमार को भी साथ में ले लिया। फिर सभी सेठ के साथ उसके घर के लिये चल पड़े।

श्रेणिक का आश्चर्य तब ओर बढ़ गया, जब सेठ की हवेली के द्वार पर पहुँचे। उसके राजप्रसाद से भी विशाल और रम्य अट्टालिका थी उस सेठ की। उस हवेली की साज-सज्जा दर्शनीय थी। जब सेठ राजा आदि को हवेली के भीतर ले जाने लगा तो राजा ने रोका- भाई, हमारे पास समय कम है। तुम हमें सीधे अपनी

गौशाला ले चलो ताकि तुम्हारे बैल को देखकर हम लौट जावें।

सेठ ने नम्रतापूर्वक कहा- महाराज, मैं सीधे आपको वहीं ले चल रहा हूँ, जहाँ मेरा बैल बंधा हुआ है।

अपने दल के साथ राजा चलता रहा एक आंगन से दूसरे आंगन और एक दालान से दूसरे दालान, किन्तु अट्टालिका का अन्त नहीं आ रहा था। राजा ने उकता कर फिर कहा- हम तुम्हारी यह अट्टालिका देखने नहीं आये हैं, फिर सारी अट्टालिका में हमें क्यों घुमा रहे हो? हमें तो जल्दी से अपने बैल बता दो।

वही तो मैं कर रहा हूँ, राजन्। कहते हुए सेठ राजा को एक विशाल कक्ष में से होकर भूमिगृह में ले गया। राजा का आश्चर्य बढ़ता ही जाता था कि क्या बैलों को इस अंधेरे भूमिगृह में बांध रखा है?

भूमिगृह में पहुँच कर सेठ ने एक पर्दा हटाया। राजा का आश्चर्य सीमा लांघ गया। क्या देखते हैं कि चारों ओर रंग बिरंगा झिलमिल प्रकाश फैला हुआ है। सामने ही अमूल्य मणि माणिक्यों से जड़ा हुआ एक कृत्रिम बैल खड़ा है। उसकी आँखों में विशाल आकार के वैडूर्य रत्न जड़े हुए थे, जिनसे लहराती हुई-सी दमक फूट रही थी। सींगों पर नीलम और पूंछ पर पन्ने

जड़े थे। सब ठगे से उस बैल को देखते रहे। तब सेठ ने उस बैल की पीठ पर से एक पट हटाया और राजा को भीतर झांकने के लिये कहा। राजा देख कर हैरान कि उसकी पोलार में बाहर जड़े हुए रत्नों की अपेक्षा भी कई गुने अमूल्य पत्थर भरे हुए थे। इस एक बैल के ही रूप में राजा इतनी विशाल सम्पदा देख दंग रह गया।

राजा यह सब देख रहा था, शायद देखकर भी देख नहीं पा रहा था या फिर विचार ही कर रहा था। उसकी उस विचार तन्द्रा को तोड़ता हुआ सेठ बोला- महाराज, इसी बैल की जोड़ी का मुझे दूसरा बैल चाहिये। वह दूसरा बैल भी देख लीजिये। जिसको पूरा करने की मुझे दरकार है।

सेठ राजा को दूसरे भूमिगृह में ले गया। वहाँ भी पर्दा हटाने पर कुछ पहले जैसा ही दृश्य उपस्थित हो गया। चारों ओर चन्द्रमा की चांदनी जैसा शीतल प्रकाश फैला हुआ था। वह बैल भी वैसा ही स्वर्णखचित एवं रत्नजड़ित था। उसे दिखाते हुए सेठ ने राजा से कहा- महाराज, यही उसकी जोड़ी का बैल है किन्तु इसके अभी सींगों के ऊपरी हिस्से बनने हैं। मेरी सारी सम्पत्ति इनको बनाने में समाप्त हो गई है और मेरे पास कुछ भी नहीं बचा है। इस बैलों की जोड़ी के लिये ही आजकल

मैं कठिन परिश्रम कर रहा हूँ। धनाभाव इस समय मेरी मुख्य समस्या है। मेरा मन चाहता है कि जोड़ी का यह बैल शीघ्रताशीघ्र तैयार हो जाये। इसी के लिये दिन में मैं दुकान पर धंधा करता हूँ तथा रात में जान की जोखिम उठाकर भी नदी में से चन्दन की व अन्य प्रकार की कीमती लकड़ियाँ चुनता हूँ। रात-दिन इस प्रकार मैं धन जमा करने में प्राणपण से जुटा हुआ हूँ ताकि इस बैल के सींगों के कंगूरे पूरे हो जाये और मैं बैलों की जोड़ी को पूर्णता के साथ देख सकूं। महाराज, ऐसा होने पर ही मेरी अन्तिम सांस सुखपूर्वक निकल सकेगी।

राजा सब देखकर- सब सुनकर हतप्रभ रह गया। मनुष्य के मन की तृष्णा कितनी वृहदाकार होती है? क्या उसका अन्त कहीं दिखाई भी देता है? आज यह सेठ बैलों की ऐसी एक जोड़ी पूरी करने के लिये जी तोड़ परिश्रम कर रहा है, किन्तु क्या यह जोड़ी पूरी हो जाने पर यह सन्तोष की सांस ले लेगा? असंभव, इसे फिर नई जोड़ी की धुन लगेगी। एक के बाद एक जोड़ियाँ बनती जायगी, पर इस का मन कभी नहीं भरेगा। तृष्णा की दी ऐसी ही वैतरणी होती है।

विचार भार से हल्के होकर राजा ने मुस्कुराते हुए पूछा- सेठ, तुम्हारा नाम क्या है?

मेरा नाम मम्मण सेठ है महाराज।

लेकिन मैं तो तुम्हें मण-मण सेठ कहूंगा, क्योंकि तुम्हारा लोभी मन मण-मण का है, जो शायद ऐसी असंख्य बैलों की जोड़ियाँ मिल जाने पर भी कभी नहीं भरेगा।

बोध पाने की बजाय मम्मण सेठ निर्ल्लज्जता से हंसने लगा।

स्रोत- आवश्यक निर्युक्ति

आचारांग सूत्र- शीलांक टीका

सार- तृष्णा की नदी कभी नहीं तैरी जा सकती।

❖ ❖ ❖

मेंढक का मरण

आप दर्दुर (मेंढक) देव हैं, स्वामी! यह सौधर्म कल्प देवलोक का दर्दुराव-तंसक विमान हैं और सुधर्मा नामक सभा है। आप यहाँ अवतरित हुए हैं। आपके अधीन यहाँ चार हजार सामानिक देव, चार अग्रमहिषियाँ और तीन परिषदें हैं। इन पर आपका शासन रहेगा- यह कहते हुए विमान सेवक देवों ने दर्दुर देव का अभिनन्दन किया।

देवों को अवधिज्ञान तो होता ही है। दर्दुर देव ने ध्यान लगाया और देखा कि राजगृह नगर के गुणशील उद्यान में भगवान महावीर अपने चौदह हजार शिष्यों सहित विराजे हुए हैं। भगवान की धर्मदेशना चल रही है और सभा के श्रोताओं में राजा श्रेणिक आदि अनेकानेक गणमान्य भी हैं। उसकी भगवान के दर्शन करने की अभिलाषा हुई। वह तुरन्त अपने परिवार एवं ऋद्धि-सिद्धि सहित गुणशील उद्यान में पहुँचा। भगवान के दर्शन-वन्दन

करने के पश्चात् उसने सूर्याभदेव के समान नाट्य विधि प्रदर्शित की। दर्दुर देव की दिव्यता, ऋद्धि सम्पन्नता एवं शोभा सब को अद्वितीय लगी। फिर वह अपने स्थान को चला गया।

सबकी जिज्ञासा को अभिव्यक्ति दी जैसे स्वयं गौतम स्वामी ने। उन्होंने नम्रतापूर्वक भगवान महावीर से पूछा- भगवन्! यह दर्दुर देव महाऋद्धिमान हैं, किन्तु उसने अभी यहाँ जिस विक्रिया का प्रदर्शन किया, वह यकायक कहाँ लुप्त हो गई?

भगवान ने फरमाया- हे गौतम! उसकी वह ऋद्धि शरीर में समा गई। कैसे? उसके लिये कूटागार का दृष्टान्त सुनो। एक कूट (शिखर) के आकार की शाला थी, जो बाहर से गुप्त, पर भीतर से विशाल थी। उसके चारों ओर सुदृढ़ कोट था जिसके कारण भीतर वायु तक प्रवेश नहीं कर पाती थी। उसके समीप ही बहुत बड़ा जनसमूह रहता था। एक बार सारा आकाश मेघाच्छन्न हो गया और जोरदार तूफान उठा। ऐसे आपातकाल में जनसमूह कूटागार में घुस कर बैठ गया और निर्भय हो गया। जैसे सब लोग उस कूटागार में समा गये, उसी प्रकार दर्दुर देव की ऋद्धि भी उसके देव शरीर में समा गई।

भगवन् यह तो मैं समझ गया, किन्तु मेरे मन में एक और जिज्ञासा उत्पन्न हो गई है तथा वह यह कि

इस देव को ऐसी ऋद्धि किस साधना के फलस्वरूप प्राप्त हो सकी है? गौतम ने निवेदन किया।

गौतम, वह भी सुन लो।

महाराजा श्रेणिक के राज्य की राजधानी राजगृह में नन्द नामक मणिकार रहता था। एक बार मैं (भगवान महावीर) जब उस नगर में गया तो वह मणिकार भी सबके साथ (भगवान के) दर्शन-वन्दन को उपस्थित हुआ। धर्मोपदेश से वह बहुत प्रभावित हुआ और उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया। मैं तो विहार कर गया और वह नन्द मणिकार अपने गृहीत श्रावक धर्म पर अटल नहीं रह सका। व्रत पालन में वह धीरे-धीरे शिथिल हो गया और अपनी सम्यक्त्व के प्रति आस्था को भी भुला बैठा। वह आत्म-श्लाघा के कार्यों में भ्रमित हो गया। भ्रमणा से मिथ्यात्व आता ही है और उसकी भ्रमणा चलती रही, मिट नहीं पाई, क्योंकि तदनन्तर उसे न तो साधु समागम हुआ और न ही विशुद्ध ज्ञान मिला। भ्रमण ने उसकी रुचियों में भी विपरीतता ला दी। वह भाव शुद्धि की दृष्टि से असावधान बन गया।

नन्द मणिकार ने एक बार तेला (तीन दिन की तपस्या) किया और पौषधशाला में विचरण करने लगा। वह ग्रीष्म ऋतु का काल था और रात्रि में उसे बहुत जोर की प्यास लगी। तृषा से वह आकुल-व्याकुल हो उठा। उस समय अपनी व्याकुलता में वह सोचने लगा-

राजगृह नगर के बाहर अनेक बावड़ियाँ, पुण्करिणियाँ एवं सरोवर स्वच्छ जल से भरे हुए हैं। इनका जिन श्रेष्ठियों ने निर्माण कराया, वे सराहनीय हैं। मैंने प्यास की पीड़ा आज जानी है और मुझे प्रतीत होता है कि इसके निवारण के लिये जो ऐसा निर्माण कराते हैं, उनका नाम और यश दीर्घकाल तक चलता रहता है। मैं भी कल राजाज्ञा प्राप्त कर नगर के बाहर विशाल एवं सुन्दर एक पुष्करिणी (बावड़ी) का निर्माण कराऊंगा। पौषध में ही उसने ऐसा विचार किया और निर्णय ले लिया।

दूसरे ही दिन नन्द मणिकार स्नानादि से निवृत्त हो और अनेक उपहार लेकर राजा श्रेणिक के समीप पहुँचा। उसने पुष्करिणी निर्माणं हेतु राजाज्ञा प्राप्त की तथा निर्माण कार्य का श्रीगणेश करा दिया। उसके निर्माण में उसने खूब धन लगाया। सभी पुष्करिणियों में वह सर्वश्रेष्ठ मानी गई। चारों ओर उसने परकोटा लगाया, उद्यान विकसित किया और भ्रमण एवं क्रीड़ा स्थल तैयार कराये। उसने अपनी इस पुष्करिणी का नामकरण किया- नन्दा।

जब-जब नन्द लोगों के मुँह से नन्दा की प्रशंसा सुनता, उसका मन खूब ही आनन्ददित होता। धीरे-धीरे उसका सारा ध्यान अपनी नन्दा पर ही केन्द्रित होने लगा। उसने नन्दा के क्षेत्र का चारों ओर से विस्तार

करना शुरू किया। उसने पूर्व दिशा के वनखंड में एक विशाल चित्र सभा बनवाई, जिसका मुख्य कक्ष सैकड़ों स्तम्भों पर खड़ा करवाया। इसमें पथिक विश्राम करते और नन्द का गुणगान करते। दक्षिण दिशा में उसने भोजनशाला का निर्माण कराया, जहाँ अतिथियों को स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होता। पश्चिमी वन खंड में एक विशाल चिकित्साशाला का निर्माण कराया गया, जहाँ उच्च कोटि के चिकित्सक नियुक्त हुए तथा श्रेष्ठ औषधियाँ रखी गई। अन्त में उत्तर दिशा के वनखंड में एक अलंकार सभा बनवाई गई, जहाँ दीन-दरिद्रों को वस्त्राभूषण दान में दिये जाते। इस प्रकार नन्द मणिकार ने नन्दा पुष्करिणी के चहुंमुखी क्षेत्र का विपुल विकास किया। नन्दा का जल तो शीतल एवं सुस्वादु था ही, दूर-दूर से आने वाले यात्री, पथिक तथा सभी वर्गों के लोग नन्दा का जल पीते, भ्रमण करते हुए दृश्यावलियों का आनन्द उठाते तथा सभी प्रकार की सुविधाओं को सुलभता से प्राप्त करते। इस प्रकार उपसंहार एक ही था कि सभी नन्द मणिकार के उस निर्माण की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते। नन्द अपनी वह प्रशंसा सुनता और जैसे सबकुछ पा जाता। वह अपने को धन्य मानने लगा।

एक बार नन्द मणिकार अस्वस्थ हो गया- अस्वस्थ भी ऐसा कि उसे सोलहों असाध्य रोगों ने आ घेरा। यहाँ तक कि वह कुष्ठ रोग से भी ग्रसित बन

गया। वेदना और पीड़ा इतनी कि उसे पलभर को भी चैन नहीं मिलता। कुशल वैद्यों की चिकित्सा से भी उसे कोई लाभ नहीं पहुँचा। उसे अनुभव होने लगा कि अब उसका पुनः स्वस्थ हो पाना असंभव-सा है, फिर भी अपने परिवारजनों को बुलाकर उसने कहा- सारे राज्य में घोषणा करवा दो कि जो कोई वैद्य नन्द मणिकार की सफल चिकित्सा कर देगा उसे विपुल धनराशि दी जायेगी।

घोषणा करा दी गई। वह लोकप्रिय भी था। दूर-दूर से वैद्य आये, उन्होंने उसकी चिकित्सा की किन्तु निष्फल रही। वैद्य भी निराश हो गये और वह भी। नन्द का न रोग मिटा और न पीड़ा शांत हुई। वह अपनी रोगग्रस्त दशा में भी अपनी नन्दा पुष्करिणी के ही विषय में सोचा करता और जनता की सराहना के स्वरों में खो जाता। इसी ध्यान में वह मरण को प्राप्त हुआ और इसी ध्यान के कारण वह अपनी ही नन्दा पुष्करिणी में मेंढ़क के रूप में उत्पन्न हुआ।

आत्म-श्लाघा की मूर्छा ने नन्द मणिकार को मेंढ़क बना दिया। वह नन्दा के जल में छोटे से बड़ा हुआ- आने वाले लोगों की बातें सुनने व समझने लगा। जो भी वहाँ आते, वे नन्द मणिकार की प्रशंसा करते और उसे वह मेंढ़क सुनता। निरन्तर वह प्रशंसा सुनते-सुनते उस मेंढ़क को जाति स्मरण अर्थात् पूर्वजन्म का ज्ञान हो आया। तब मेंढ़क को अपने पूर्व जीवन के सभी वृत्तान्त

स्मरण हुए और उसने सोचा कि श्रावक व्रत अंगीकार करके भी मैंने उनका यथोचित् पालन नहीं किया- यह मेरी घातक भूल थी। नन्दा में अतीव आसक्ति रखकर मैं अपने कर्त्तव्य से ही च्युत हो गया- निर्ग्रंथ प्रवचन से भ्रष्ट बन गया।

जो नन्द के भव में नहीं सोचा, वह सबकुछ उस मेंढ़क के मन को मथने लगा। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि अब श्रावक के उन्हीं बारह व्रतों का पुनर्ग्रहण करके उनका प्राणपण से पालन करेगा। इस प्रकार विचार करके उसने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये और अंगीकार करके उसने अभिग्रह धारण किया कि आज से जीवनपर्यन्त मुझे बेले-बेले की तपस्या से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करना कल्पता है। बेले के पारणे में भी नन्दा पुष्करिणी के पर्यन्त भागों में, प्रासुक-अचित हुए स्नान के जल से और मनुष्यों के उपमर्दन आदि द्वारा उतारे मैल से अपना निर्वाह करना कल्पता है। उसने ऐसा अभिग्रह धारण किया और अभिग्रह धारण करके निरन्तर बेले-बेले की तपस्या से आत्मा को भावित करता हुआ विचरण करने लगा।

मेंढ़क सच्चा श्रावक बन गया और त्यागमय जीवन व्यतीत करने लगा। एक बार पुष्करिणी पर आये लोगों की बातचीत से उसने जाना कि भगवान महावीर का गुणशील उद्यान में पदार्पण हुआ है तो उसने भी वहाँ

पहुँचकर भगवान के दर्शन करने का निश्चय किया। दर्शन-वन्दन की उत्कृष्ट अभिलाषा अपने हृदय में संजोकर वह पुष्करिणी से बाहर निकला और फुदकता हुआ गुणशील उद्यान की ओर आगे बढ़ा। राजमार्ग पर चलते हुए उसके हर्ष का पार नहीं रहा कि अब वह भगवान के दर्शन कर उनका धर्मोपदेश सुनेगा और अपने जीवन को पवित्र बना लेगा।

मेंढ़क का शरीर छोटा सा था, किन्तु उसकी भावशुद्धि व्यापक बन गई थी। राजा श्रेणिक दल-बल सहित और नगर निवासी भी उसी मार्ग पर, उसी गंतव्य की ओर अग्रसर हो रहे थे। तभी राजा श्रेणिक के किशोर अश्व का कठोर खुर उस मेंढ़क पर गिर गया। वह आघात उसके प्राणान्त के लिये पर्याप्त था। उसने अपने जीवन की समाप्ति नजदीक जान वहीं से भगवान की पद वन्दना की और संलेखना संथारा का प्रत्याख्यान कर लिया। नन्द का मरण आर्त्तध्यान पूर्वक हुआ तो उसी के जीव उस मेंढ़क ने समाधिमरण की प्राप्त की। वह दर्दुर देव की दिव्य ऋद्धि इसी का सुपरिणाम थी।

स्त्रोत- ज्ञाताधर्मकथा सूत्र।

सार- ममत्त्व दुर्गति का कारण होता है। जबकि भावशुद्धि से सद्गति प्राप्त होती है।

❖ ❖ ❖

फूटे ढोल से घोषणा

भगवन्, आज मैंने एक दयनीय दृश्य देखा- कवच और झूल आदि से सुसज्जित बहुत से हाथी-घोड़े और धनुषधारी सिपाहियों के बीच में एक आदमी खड़ा था। वह उल्टी मुश्कों से बंधा हुआ था। उनके नाक, कान आदि का छेदन किया हुआ था। चिमटे से उसका तिल-तिल जितना मांस काट-काट कर उसी को खिलाया जा रहा था। फूटा हुआ ढोल बजाकर राजपुरुष उद्घोषणा कर रहे थे कि इस उज्झितकुमार पर राजा या राजपुत्र आदि किसी का कोप नहीं है, किन्तु यह अपने किये हुए कर्मों का फल भोग रहा है। यह सबकुछ अतीव करुणाजनक था। यह उज्झितकुमार कौन है तथा वह अपने कौन से कृत कर्मों का फल भोग रहा है? आप कृपा करके बतावें। गौतम स्वामी ने अपने तत्काल देखे हुए दृश्य का विवरण सुनाया तथा भगवान महावीर से पूछा।

हाँ गौतम, तुमने पूछा वह अवश्य ज्ञातव्य है। यह उज्झितकुमार वाणिज्य ग्राम के सार्थवाह विजय का पुत्र है तथा उसकी माता का नाम सुभद्रा है। इस नगर के राजा मित्र और रानी श्रीदेवी हैं। किन्तु यह उज्झित कुमार अपने किन कर्मों का कुफल आज भोग रहा है उसके लिये इसका पूर्व भव जानना आवश्यक है।

भगवन् इसका पूर्वभव भी सुनावें, जिससे यह ज्ञात हो सके कि ऐसा भयंकर अपमान किन कारणों से जीव को भोगना पड़ता है। ऐसा होने से कई भव्यप्राणी वैसे कारणों से दूर रहते हैं तथा वैसे पाप कर्मों को करने से बचते हैं।

तो गौतम, सुनो इस उज्झितकुमार की पाप गाथा, इस और उस भव की।

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में हस्तिनापुर नामक एक नगर था। वहाँ सुनन्द नाम का राजा राज्य करता था। उसी नगर में एक विशाल गोमंडप (गोशाला) था, जिसमें बहुत-सी गायें, भैंसें, बैल, भैंसा, सांड आदि रखे गये थे। उसमें घास, पानी आदि पर्याप्त मात्रा में जमा रहता था, जिसके कारण सभी पशु वहाँ पर सुख से रहते-विचरते थे।

उसी नगर में भीम नामक एक कूटग्राही (कुकर्म करके द्रव्य उपार्जन करने वाला) रहता था। उसकी स्त्री

का नाम उत्पला था। एक समय उत्पला गर्भवती हुई, तब उसे इस प्रकार का दोहद उत्पन्न हुआ कि वह गाय, बैल आदि के किन्हीं अंग-प्रत्यंगों का मांस खावे। भीम उस दोहद को पूरा करने के लिये अर्धरात्रि के समय चोर के समान उस गोशाला में पहुँचा। वहाँ से वह गायों के स्तन, कंधे, गल कम्बल आदि का मांस काटकर लाया और उसे शूले बनाकर उसने तलकर मदिरा के साथ अपनी पत्नी को खाने के लिये दिये। इस प्रकार उसने अपनी पत्नी का वह वीभत्स दोहद पूर्ण किया।

गर्भकाल समाप्त होने पर उस उत्पला ने एक ऐसे बालक को जन्म दिया, जिसके चिल्लाने, चीखने और रोने से उस गोशाला के सब पशु बुरी तरह से भयभीत होकर भागने लगे। बालक के ऐसे लक्षण देखकर उसके माता-पिता ने उसको गोत्रास, ऐसा गुण निष्पन्न नाम दिया।

गोत्रास जब युवावस्था को पहुँचा तब उसके पिता भीम कूटग्राही की मृत्यु हो गई। तब राजा सुनन्द ने गोत्रास को कूटग्राह के पद पर नियुक्त कर दिया। राज्य पद पाकर गोत्रास निःशंक हो गया। वह यदा-कदा गोशाला में जाता, बहुत से पशुओं के अंगोपांगों का छेदन करता और उसके शूले बनवाकर चटखारे लेते हुए

खाता। इस प्रकार वह भारी पाप कर्मों का गट्ठर बांध ता रहा। उसकी पाँच सौ वर्ष की सम्पूर्ण आयु हिंसा कार्य करते तथा आर्त्त-रौद्र ध्यान ध्याते हुए व्यतीत हुई। वह मरकर दूसरी नरक में उत्पन्न हुआ।

नरक का अपना आयुष्य पूरा करके वही जीव विजय सार्थवाह की पत्नी भद्रा की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। भद्रा को वह बालक अत्यन्त अप्रियकारी लगा, अतः उसने उसे जन्मते ही उकर्डी (मैले का ढेर) पर फिकवा दिया, किन्तु पिता ने उसे वापिस मंगवाया। उकर्डी पर छोड़ आने के कारण उसका नाम उज्झितकुमार रखा गया।

माँ, एक बहुत ही अशुभ समाचार मिला है- युवा उज्झितकुमार ने अपनी माता भद्रा से कहा। जिस अशुभ समाचार को वह सुनाने वाला था, वह उसके स्वयं के लिये भी भीषण रूप से शोकजनक था, किन्तु उसके चेहरे पर वैसे शोक के कोई चिह्न नहीं थे, बल्कि यों कहें तो अधिक उपयुक्त होगा कि उसके मन में भीतर ही भीतर एक पैशाचिक खुशी आंधी बनकर बहने लगी थी। वह बाल्यकाल से ही पापमय जीवन की ओर मुड़ चला था अब तक कुसंगति, मांसभक्षण, मदिरापान, वेश्यागमन आदि के दलदल में गहराई से ध ंस चुका था। आज उसकी ऐसी स्वेच्छाचारिता पर

अंकुश लगाने वाला नहीं रहा था, इसी की उसे खुशी हो रही थी।

तुम क्या अशुभ समाचार सुना रहे हो, पुत्र? माता भद्रा ने चिन्तित होकर पूछा, क्योंकि जिस पुत्र को वह नहीं चाहती थी वह तो उसके सामने ही खड़ा था, अतः अशुभ समाचार का सम्बन्ध उसके पति विजय से ही हो सकता है।

माँ, पिताजी जिस वाणिज्य पोत में लवण समुद्र की यात्रा कर रहे थे, वह टूट जाने से समुद्र में डूब गया है- बेटे ने बेपरवाही से कहा।

और तुम्हारे पिताजी आदि तो बच गये न? माँ की आशा की डोर नहीं टूटी थी।

नहीं माँ, सभी डूब गये। कहकर उज्झितकुमार वहाँ से चला गया। भद्रा का आश्रय टूट गया। पति की मृत्यु के दारूण दुःख को वह झेल न सकी और कुछ काल के पश्चात् वह भी मृत्यु को प्राप्त हो गई।

अब उज्झितकुमार को उसकी दुष्प्रवृत्तियों से भरी पूरी स्वेच्छाचारिता को रोकने-टोकने वाला कोई नहीं रहा। वह खुश था कि वह स्वच्छन्द है, अतः वह निश्चिन्त होकर सातों कुव्यसनों का सेवन करने लगा।

उसी नगर में कामध्वजा नाम की एक वेश्या रहती थी। सुन्दरता और कामुकता में उसका सानी कोई

नहीं था। मदमस्त घूमते हुए एक बार उज्झितकुमार का इसी कामध्वजा वेश्या से सम्पर्क हो गया- वही सम्पर्क धीरे-धीरे घोर आसक्ति में बदल गया। तब उज्झितकुमार को उसके बिना एक पल भी नहीं सुहाता। वह सदैव उसके साथ ही घोर पाप कार्यों में प्रवृत्त रहता। वह उसके प्रेम में अंधा बन गया और उसके साथ कामभोग भोगता हुआ समय बिताने लगा।

एक समय वहाँ के राजा की दृष्टि कामध्वजा वेश्या पर पड़ी और वह उसके प्रति मोहित हो उठा। राजा ने उसे अपने महल में बुला लिया और उसके साथ कामभोग भोगते हुए रहने लगा। इससे विरहित होकर उज्झितकुमार अतीव दुःखित हुआ। कामध्वजा के बिना उसे अपना जीवन निरर्थक प्रतीत होने लगा। वह रात दिन उसी के बारे में सोचता रहता कि उसे पुनः कैसे प्राप्त करे? किन्तु राजा से टकराना उसके सामर्थ्य में नहीं था। फिर भी किसी रीति से उसके साथ आनन्द लूटने के लिये उसका जी उतावला हो बैठा।

एक दिन अवसर पाकर वह चुपचाप महल में घुस गया तथा वहाँ किसी की उपस्थिति न पाकर कामध्वजा के साथ क्रीड़ा करने लगा। तभी राजा वहाँ आ गया और उसे ऐसा करते देख अत्यन्त कुपित हो गया। उसने तत्काल अपने सैनिकों को बुलाया तथा उन्हें

यह आज्ञा दी- जाओ, इसे (उज्झितकुमार को) यहाँ से ले जाओ, उल्टी मुश्कों से बांधो, इसके नाक-कान छेद डालो, चिमटे से तिल-तिल काटकर इसका मांस इसे ही खिलाओ और फूटे ढोल से इसके कुकर्मों की उद्घोषणा करो।

वही उज्झितकुमार कई जन्मों तक अपने पाप कर्मों का फल-भोग लेगा, फिर चम्पानगरी में एक श्रेष्ठि पुत्र बनेगा तथा संयम की साधना करके सद्गति को प्राप्त होगा।

स्रोत- विपाक सूत्र।

सार- जीव हंसते-हंसते पापकर्म बांधता है। किन्तु उसका फलभोग रोते-रोते काटना पड़ता है।

❖ ❖ ❖

कहाँ है मेरा मुकुट?

जो जब राजा थे तब भी अपनी त्यागवृत्ति, सौम्यता एवं सदाशयता के कारण राजर्षि कहलाते थे, किन्तु जब वे ही राज्य भी त्याग कर सम्पूर्णतया ऋषि बन गये तो उनकी साधना और सद्‌गुण भूमि का कहना ही क्या? ऐसे ही ऋषि या मुनि प्रसन्नचन्द्र एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े थे, जो वृक्ष राजपथ से अधिक दूर नहीं था। उस समय उनका स्वरूप एक उग्र तपस्वी का स्वरूप था- सम्पूर्ण शरीर स्थिर और अचल, नाक के अग्रभाग पर अविचल दृष्टि एवं ध्यानलीनता की उत्कृष्ट मुखमुद्रा। मुखमंडल पर समता एवं शान्ति की ऐसी दिव्य आभा कि कोई भी देखते ही उनके प्रति श्रद्धानवत हो जाये।

तभी मगध नरेश श्रेणिक उधर से निकले। वे भगवान महावीर के दर्शन वन्दन हेतु जा रहे थे। उनकी दृष्टि मुनि प्रसन्नचन्द्र पर पड़ी तो वे मुनि की प्राभाविकता से प्रभावित ही नहीं हुए, अपितु मन ही मन उनके लिये

नतमस्तक हो गये कि कितना विशाल और त्यागी मन है इस महात्मा का, जिसने राज्य का सुख ही नहीं त्यागा बल्कि राज्य का मोह भी त्याग दिया।

महाराजा श्रेणिक की सेना के आगे-आगे चलने वाले तब उधर से निकले। राजगृह राज्य के दो सेवक दण्डधर सुमुख और दुर्मुख। उन्होंने भी वेश में ध्यानस्थ देखा तो पैर ठिक गये। सुमुख से इतनी तेज आवाज में बोला कि वह मुनि के कानों तक पहुँच जाय- सुमुख मुनि के गुणमय जीवन से प्रभावित हो उनकी स्तुति करता हुआ धन्य-धन्य कह उठा। दुर्मुख के लिए यह असह्य हो गया। उसने सुमुख से इतनी तेज आवाज में बोला कि वह मुनि के कानों तक पहुँच जाय- सुमुख, इन महाराजा को यहाँ मुनिवेश में ध्यानस्थ देखकर मेरे मन में क्रोध उमड़ आया है। ये अपने राज्य का भार अपने अवयस्क पुत्र के कंधों पर डालकर चले आये हैं और सारी चिन्ता से मुक्त हो गये हैं, किन्तु क्या तुम जानते हो कि इनके अवयस्क उत्तराधिकारी की कैसी दुर्दशा हो रही है?

नहीं तो मित्र, मुझे तो कुछ भी ज्ञात नहीं- सुमुख ने उत्तर दिया।

तो सुनो, क्या हो रहा है, यह मैं तुम्हें बताता हूँ।

अवश्य बताओ कि इनके पुत्र के साथ क्या हो रहा है?

ये राजर्षि तो दीक्षा ग्रहण करके साधु बन गये और नये अवयस्क राजा को कमजोर मानकर पड़ौसी राज्य के राजा ने उस पर आक्रमण कर दिया है।* दोनों के बीच घमासान युद्ध हो रहा है और आशंका पैदा हो गई है कि नया राजा मार दिया जाये एवं राज्य पर पड़ौसी राजा का अधिकार हो जाये।

समस्या तो बहुत गंभीर है, दुर्मुख!

है ही, पर अन्त क्या होगा, कौन जाने? जोर से दुर्मुख ने कहा और दोनों अपनी राह चल दिये।

मन ही मनुष्य के बंधन का कारण बनता है तथा मन ही उसका मोक्ष कराता है। मनुष्य का मूलनियन्ता मन होता है, जिस पर यदि वह अपना आत्मिक नियंत्रण रख ले तो मन लगाम लगे घोड़े की तरह मार्ग पर स्वस्थ गति से चलकर गन्तव्य तक पहुँचाता है और यदि उस पर नियंत्रण न रह पाए तब वह स्वयं तो बेलगाम उच्छ्रखल घोड़े की तरह दौड़कर बीहड़ में लहूलुहान होता ही है, पर अपने साथ उस मनुष्य के जीवन को भी नष्ट-भ्रष्ट कर देता है।

मन आत्म-नियंत्रित मुश्किल से ही हो पाता है, किन्तु जब होता है तो वर्षों, बल्कि जन्म-जन्मान्तरों में साधा जा सकने वाला आत्मोत्थान पलों में पूर्ण हो जाता

* मंत्रियों द्वारा राज्य हथियाने का कथन भी प्रवचनकार कहते रहे हैं।

है। यह बावला मन मनुष्य को गिराता है तो सातवें नरक की ओर ले जाने का मार्ग खोल देता है और चढ़ाता है तो उसे मोक्ष के द्वार पर खड़ा कर देता है।

दुर्मुख-सुमुख का वार्तालाप सुनकर मुनि प्रसन्नचन्द्र का मन इसी उतार-चढ़ाव के चक्कर में भ्रमित बन गया। बाहर की प्रवृत्तियाँ सर्वथा शून्य थी, परन्तु उनके मन में रणभेरी बज उठी- कौन है वह दुष्ट, जिसने मेरे राज्य पर आक्रमण करके मेरे पुत्र के प्राण संकट में डाल दिये हैं? मैं उसे कतई छोड़ूंगा नहीं। जैसे कि उनके दोनों हाथों में दो तलवारें हैं और वे शत्रु की सेना से अकेले ही भिड़ पड़े हैं। तलवारें घूम रही हैं, शत्रुओं के नर मुंड कट-कटकर धरती पर लुढ़क रहे हैं और रक्त की नदी बह चली है। वे अकेले ही जैसे सारी शत्रु सेना को भारी पड़ गये हैं- वे सैनिक या तो उनकी तलवारों से कट मर रहे हैं या भयाक्रान्त होकर भाग रहे हैं। वे अथक रूप से युद्ध किये ही जा रहे हैं, पूर्ण विजय का सेहरा बांधे बिना वे वहाँ से हरगिज नहीं हटेंगे। क्रोध का अतिउग्र आवेग उन्हें घेरे हुए है।

भगवान महावीर की सेवा में पहुँचकर राजा श्रेणिक ने वन्दन नमस्कार किया और भावपूर्वक निवेदन किया। भगवन्, अभी मैंने यहाँ आते हुए एक परमसौम्य महात्मा के दर्शन किये, उनकी भाव मुद्रा अनुपम थी। ऐसी कि मैं नत-मस्तक हुए बिना न रह सका। मैं

जिज्ञासावश ही पूछ रहा हूँ यदि वे महात्मा समय इसी कालधर्म को प्राप्त हों तो किस गति में जावेंगे?

सातवें नरक में- भगवान ने संक्षिप्त उत्तर दे दिया।

श्रेणिक यह सुनकर स्तम्भित रह गया- ऐसा महान् तपस्वी और गति सातवां नरक। यह भगवान क्या कह रहे हैं? किन्तु भगवान सदा सत्य ही कहते हैं उसमें शंका का कोई स्थान नहीं है, अतः इस रहस्यमय उत्तर का स्पष्टीकरण पूछकर जिज्ञासा क्यों न शान्त की जाये? अतिआश्चर्य भाव दिखाते हुए उन्होंने पूछा- भगवन् ! ऐसे तपस्वी महात्मा को सातवां नरक क्यों?

श्रेणिक, मनुष्य का उत्थान पतन उसके मन की गति पर निर्भर है। इस समय उन मुनि प्रसन्नचन्द्र के मन में घनघोर युद्ध चल रहा है। मन ही मन भीषण, क्रोध, घृणा एवं वैरपूर्ण क्रूरता के साथ इस समय वे शत्रु सैनिकों को मौत के घाट उतार रहे हैं, तलवारों से खेल रहे हैं और खून के फव्वारे उड़ा रहे हैं। इस समय घमासान मानस युद्ध चल रहा है उनका। इस कारण अभी जो उनकी मृत्यु हो तो अपनी निकृष्ट भावधारा के अनुसार उनका जीव सातवें नरक में पहुँच जाये।

श्रेणिक के मन को शान्ति कहाँ? थोड़ी देर ठहरकर उन्होंने फिर वही प्रश्न पूछा। उत्तर मिला- छठा

नरक। समयान्तर से वे प्रश्न पूछते गये और भगवान के उत्तर छठे नरक से पहले नरक पर पहुँच गये। अगला उत्तर मिला- यदि अभी वे मरण को प्राप्त हों तो देवलोक के सौधर्म कल्प में महासमृद्धिशाली देव बनें। इस उत्तर ने राजा को चौंका दिया- पल-पल में यह गति क्रम क्यों बदल रहा है, कैसे बदल रहा है। उतार से इस प्रकार चढ़ाव की ओर?

मुनि प्रसन्नचन्द्र अपने मानस युद्ध में विजयश्री के समीप पहुँचते जा रहे थे। शत्रु की सारी सेना का वे अकेले अन्त कर चुके- अब तो चन्द सैनिक बचे थे और वह दुष्ट आक्रामक राजा। इनको भी वे शीघ्र ही भू लुंठित कर देंगे और अपने पुत्र को सुरक्षित बना लेंगे। ये मारा बचे हुए चन्द सैनिकों को- उनके कटे हुए मस्तक धरती पर लुढ़क रहे हैं। अब तो मात्र राजा ही बचा है, कहाँ जायेगा वह? मेरे हाथों वह कदापि न बच पायेगा। तभी..... अरे यह क्या हुआ, किसने ऐसा वार किया कि मेरी दोनों तलवारें एक साथ खंडित होकर टूट गई? तो क्या यह वार उस दुष्ट राजा ने ही किया है? किया हो, पर मैं हार नहीं मानने वाला। मेरे मस्तक पर जो मुकुट रखा हुआ है, वह वज्रमय है। मैं इसी मुकुट का प्रहार करता हूँ शत्रु के मस्तक पर।

मुकुट उठाने के लिये हाथ मस्तक की ओर बढ़े, मगर वहाँ मुकुट नहीं मिला, वे मुंडित मस्तक पर

जाकर ठहर गये। आवेश में मुनि चीख उठे- कहाँ है मेरा मुकुट?

हाथ मुंडित मस्तक पर फिराते रहे- मुकुट की याद आई कि उसे तो वे कभी का त्याग चुके हैं। वे तो मुनि बने हुए हैं, फिर इतनी देर से वे यह सबकुछ क्या कर रहे थे? किसे मार रहे थे और किस की रक्षा कर रहे थे? राग-द्वेष से परे हो चुके हैं वे तो। धिक्कार है मुझे कि अपने भ्रमित मन के साथ मैं डूब गया था क्रूर हिंसा, वैर, घृणा और विद्वेष के आवेग में। यह क्या किया मैंनें? अपने अमूल्य साधुत्व को ही भूल गया। राग-द्वेष को पूर्णतः त्याग कर वीतराग बनने का संकल्प लिया था मैनें और मूर्छित हो गया राग-द्वेष के ही घोर दलदल में। मुझे अपार पश्चात्ताप है अपनी इस विपथगामिता पर। मैं तुरन्त कठोरतम प्रायश्चित्त लेकर अपनी भाव शुद्धि करूंगा, अपने आत्मपटल को स्वच्छ एवं उज्ज्वल बनाऊंगा तथा पूर्ण कर्म मुक्ति की दिशा में अग्रसर बनूंगा।

मुनि प्रसन्नचन्द्र की भाव श्रेणी उतार से चढ़ाव की ओर क्रमशः बढ़ती ही चली गई एवं वह उत्कृष्ट होती ही रही जब तक कि उत्कृष्टतम न बन गई।

भगवन् ! यदि वे महात्मा अब कालधर्म को प्राप्त हो तो किस गति में पहुँचें? श्रेणिक की पृच्छा जारी थी।

राजन् ! अब वह जीव कल्प और ग्रैवेयक देवलोक की भूमिका से भी ऊपर की ओर बढ़ता हुआ चला जा रहा है। अब उसके मन में भीतर ही भीतर भावनात्मक आरोहण चल रहा है और उसी के साथ गतिक्रम भी त्वरित गति से परिवर्तित होता जा रहा है। भगवान ने मन की भाव श्रेणियों की उत्कृष्टता एवं उन्नतता पर प्रकाश डाला।

श्रेणिक की उत्सुकता को विश्राम नहीं था। वे फिर पूछ बैठे- अब प्रभु?

अब वह सर्वार्थसिद्धि की भूमिका पर पहुँच चुका है।

भगवान का यह उत्तर पूरा ही हुआ था कि आकाश में देव दुंदुभियाँ बजने लगी, पुष्प वर्षा करते हुए देवी-देवता धरती पर उतरे और केवली बने मुनि प्रसन्नचन्द्र का जय-जयकार करने लगे।

यह क्या हो रहा है, प्रभु? श्रेणिक का आश्चर्य सीमा पार कर रहा था।

राजन् ! मुनि प्रसन्नचन्द्र को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है और देवी-देवता उनका कैवल्य-महोत्सव मनाने के लिये आ रहे हैं।

मैं तो कुछ भी समझ नहीं पाया भगवन्। अभी-अभी तो उनके लिये सातवां नरक था और इतने

अल्प समय में ही वे मोक्ष के मेहमान बन गये हैं- यह कैसे हो गया? दोनों विपरीत स्थितियों का यह अनोखा सम्बन्ध तो मेरी समझ के बाहर है।

श्रेणिक ! इसमें आश्चर्य करने जैसी बात नहीं है। मन की गति ऐसी ही होती है, इतनी चपल की वह पलों में कहीं से कहीं पहुँच जाता है। तुमने जब उस साधक के दर्शन किये थे तब वह अपनी समत्व की भूमिका पर अटल खड़ा था। तुम यहाँ पहुँचे तब तक वह उस भूमिका से पतित हो गया और घोर हिंसा, वैर एवं द्वेष के मानसिक द्वन्द में फंस गया। उसका उस समय का वह राग-द्वेष का दुष्चक्र सातवें नरक का दुष्चक्र बन गया। मुकुट को पकड़ने के आवेग और मुंडित मस्तक के संस्पर्श के परिणामस्वरूप उसकी भवधारा का त्वरित गति से रूपान्तरण होता गया- अशुभता से शुभता की ओर। तो उतार से चढ़ाव की तरफ बढ़ते हुए भावों ने गतिक्रम को भी बदल दिया- सातवें नरक से केवलज्ञान की प्राप्ति तक। ऐसा होता है वस्तुतः मनःस्थिति का गतिक्रम।

तो प्रभु, परिवर्तन का कारण बना उनका मुकुट जो उनके मस्तक पर नहीं था। इसी विचार ने उन्हें जगा दिया कि मैं तो मुकुटधारी राजा नहीं, मुंडित नग्न सिर वाला साधु हूँ। तब उनका मन विपथगामी नहीं रहा, सुपथगामी बन गया।

राजन् ! मन के संकल्प-विकल्प बलवान होते हैं और जो इस मन को वश में करके उसे सत् बना लेता है, वह ऊर्ध्वमुखी हो जाता है।

स्रोत- त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र।

सार- मन को साधे सब सधे। सब साधे, सब जाय।

❖ ❖ ❖

चेटक की तलवार

आओ हल्ल-विहल्ल, तुम दोनों मेरे विशेष प्रिय पुत्र हो और इसलिये मैं अपने जीवन के इस अन्तिम समय में तुम दोनों को दो विशेष वस्तुएँ, पितृ प्रेम के प्रतीक स्वरूप देना चाहता हूँ और ये हैं- सेचनक गंधहस्ती और बंकचूल हार। मगध सम्राट बिम्बसार ने अपने दोनों पुत्रों को उक्त वस्तुएँ भेंट स्वरूप प्रदान की। फिर उनकी मृत्यु हो गयी।

हल्ल और विहल्ल पिता की मृत्यु से अत्यन्त ही दु:खित हुए। रह-रहकर उन्हें अपने पितृ प्रेम की याद सताती थी और वे सेचनक गंधहस्ती और बंकचूल हार में उसकी झलक पाकर सन्तुष्ट हो जाते थे- ये उनको दिये गये उनके पिता के प्रेमपूर्ण उपहार जो थे। दोनों भाई हारहाथी की सहायता से भ्रमण किया करते और प्रकृति का आनन्द उठाते। इस पर जन-जन में यह चर्चा थी कि राज्यश्री का वास्तविक आनन्द तो हल्ल एवं विहल्ल कुमार ही उठा रहे हैं।

यह जन चर्चा कुणिक की पत्नी रानी पद्मावती ने भी सुनी। इससे वह स्त्री सुलभ ईर्ष्या से कट कर रह गई, किन्तु मन ही मन उसने निश्चय कर लिया कि ये दोनों दिव्य वस्तुएँ उनके पास नहीं रहेगी। ये तो सम्राट के पास ही होनी चाहिये ताकि इनका उपयोग वह कर सके। ये वस्तुएँ तो राज्य की थी और राज्य के साथ ही रहनी चाहिये। ऐसा विचार करती हुई वह कौणिक के पास पहुँची। पति के प्रति आत्यन्तिक प्रेम का प्रदर्शन करते हुए उसने अपने पति से कहा- नाथ! कहने के लिए ही आप तो राजा हैं। असली राज्यश्री का उपयोग करने की दृष्टि से हल्ल-विहल्ल कुमार ही सचमुच में राजा हैं। जन-जन भी यही कहता है कि राजश्री का उपयोग तो हल्ल-विहल्ल कुमार ही कर रहे हैं। उनके पास जो हार और हाथी हैं उनके बिना आपके राज्य की शोभा ही क्या?

पर महारानी, ये दोनों वस्तुएँ तो स्वयं पिताजी ने उन्हें दी है। इन्हें मैं उनसे कैसे छीन लूं? अपना तो पूरा साम्राज्य है, तुम साम्राज्ञी हो, तुम्हें किस बात का अभाव है?

महाराज ! पिताजी ने दी तो दी, पर ये वस्तुएँ तो राज्य की ही हैं, आप उन्हें साधिकार हस्तगत कर सकते हैं। क्या आप अपनी प्रिया के लिये- उसकी छोटी-सी प्रसन्नता के लिये इतना भी नहीं कर सकते?

रानी ने आखिरी तीर छोड़ दिया और सचमुच में उससे बिंध गया कुणिक। इतना भी नहीं कर सकते- यह तो उसके पौरूष का ही प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। अब वह इससे कैसे हट सकता है? उसने आश्वासन दे दिया- प्रिये, यह सेचनक गंधहस्ती और बंकचूल हार अब तुम्हारे हो जायेंगे, तुम निश्चिन्त रहो।

कुणिक ने यह आश्वासन दे दिया तो अब उसे पूरा करने का दायित्व भी उस पर आ गया, फिर प्रिया के प्रति इस दायित्व वहन में वह विलम्ब क्यों करता? उसने हल्ल और विहल्ल को बुलावा भेजा। दोनों भाई आ गये तो आधिकारिक स्वर में उसने आदेश-सा दिया- हल्ल और विहल्ल, तुम सेचनक गंधहस्ती और बंकचूल हार तुरन्त मुझे सौंप दो।

किन्तु भाई साहब, ये वस्तुएँ तो स्वयं पिताश्री ने हमें विशेष रूप से प्रदान की हैं- नम्रतापूर्वक दोनों भाईयों ने प्रतिवाद किया।

पिताश्री की दी हुई बात उनके साथ चली गई। ये दोनों दिव्य वस्तुएँ राज्य की सम्पत्ति थी और हैं, अतः वे सम्राट के पास ही रहेंगी।

किन्तु भ्राताश्री, यह तो आपका अन्याय है। आप तो इस विशाल साम्राज्य के स्वामी हैं, क्या मनोरंजन की ये दो वस्तुएँ भी आप अपने छोटे भाईयों

के न्यायोचित अधिकार में नहीं रहने देंगे? यदि ये दो वस्तुएँ लेना ही चाहते हैं तो इसके बदले हमें राज्य का अर्ध भाग दे दीजिए।

मैं इसमें कोई वाद-विवाद नहीं चाहता। मैंने जो कह दिया है, वह सम्राट का आदेश है। आदेश की त्वरित पालना न होने का परिणाम तुम जानते हो। जाओ और आदेश की तुरन्त पालना करो।

बिना कुछ बोले दोनों भाई उस कक्ष से निकल गये और विचार करने लगे कि अब क्या करना चाहिये। यहाँ रहने में अब खैरियत नहीं है।

विचारों की इसी उधेड़बुन में उन्हें यकायक याद आई अपने नानाजी चेटक गणाधिपति की। वे वैशाली गणतंत्र के अध्यक्ष थे- धर्मनिष्ठ श्रावक, न्यायप्रिय शासक, साहसी योद्धा एवं अपनी तलवार के धनी। माना जाता था कि चेटक की तलवार न्याय की रक्षा और अन्याय के प्रतिकार में सदा सन्नद्ध रहती थी।

इसके बाद हल्ल और विहल्ल ने एक पल का भी विलम्ब करना उचित नहीं समझा, क्योंकि किसी भी पल कुणिक कैसा भी अत्याचार उन पर ढ़ा सकता था। हार पहिना, हाथी पर बैठे और दोनों भाई चले वैशाली को अपने नानाजी के रक्षा कवच में शरण ले लेने के लिये।

वैशाली गण परिषद की सभा बुलाई गई थी, क्योंकि कुणिक का धमकी भरा सन्देश आया था- हल्ल और विहल्ल दोनों राजकीय सम्पत्ति लेकर भागे हैं अत: मगध राज्य के अपराधी हैं। आपने उन्हें शरण दी है- यह मगध साम्राज्य के प्रति शत्रुतापूर्ण कार्य है, जिसे हम असह्य मानते हैं। इस कारण सन्देश प्राप्त होते ही हमारे दूत को हार हाथी सहित हल्ल और विहल्ल को सौंप दें, अन्यथा मगध अपनी सम्पूर्ण सैनिक शक्ति के साथ वैशाली पर आक्रमण करेगा और अपराधियों को अपने अधिकार में लेगा। तब युद्ध में होने वाले विनाश का दायित्व वैशाली पर होगा, मगध पर नहीं।

अध्यक्षीय आसन से चेटक महाराज ने कुणिक का सन्देश सभी सदस्यों को पढ़ सुनाया और सम्मति चाही कि इन परिस्थितियों में गण परिषद को क्या निर्णय लेना चाहिये? शरणागत की रक्षा, अन्याय का प्रतिकार और युद्ध के आमंत्रण को स्वीकृति अथवा कायरतापूर्ण आत्म-समर्पण का निर्णय?

एक सदस्य ने चर्चा प्रारंभ की- इसमें कोई सन्देह नहीं कि समस्या अतीव गंभीर है। वैशाली का छोटा-सा गणतंत्र मगध साम्राज्य के प्रहार को झेल नहीं पायेगा। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या हम शरणागत धर्म को त्याग दें, न्याय से आँखें चुरा लें, एक अन्यायी के

सामने अपने घुटने टेक दें और आत्म-सम्मान एवं वीरता खोकर कायरता भरा जीवन भीख में पाकर प्रसन्न हो जाये? क्या उत्तर देते हैं आप सब मेरे इस प्रश्न का?

एक अन्य सदस्य ने गंभीरतापूर्वक बोलना शुरू किया- माननीय सदस्य का प्रश्न उचित है और उसका उत्तर युद्ध के सिवाय अन्य हो ही नहीं सकता। परन्तु एक प्रश्न यह भी है कि क्या युद्धोपरान्त इस गणतंत्र का अस्तित्व भी बच पायेगा? क्या हम सब साम्राज्यवादी भेड़िये के मुँह में नहीं चले जायेंगे?

यों चर्चा चलती रही गण परिषद की सभा में, किन्तु एक का भी मत यह नहीं था कि किसी भी कीमत पर एक साम्राज्य के सामने गणतंत्र अपनी हार मान ले। अध्यक्ष चेटक ने चर्चा का उपसंहार किया- माननीय सदस्यों, क्षत्रिय वीरों की भाँति ही जीवन जीता है। वह हंसते-हंसते मृत्यु का वरण कर सकता है, किन्तु कायर कदापि नहीं कहला सकता। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है न्याय और अन्याय का। सबको न्याय मिले, यह शासकीय धर्म है। इसका अर्थ है न्याय की रक्षा और अन्याय का विरोध। तो अन्याय का विरोध भी हमारा धर्म है- ऐसा धर्म जिसके लिये प्राण त्यागना भी गौरव की बात होती है। अब जीत-हार का प्रश्न महत्त्वहीन हो जाता है। जीतें या हारें, पर धर्म को न छोड़ें, वीरता को न त्यागें- यही सर्वाधिक

महत्त्वपूर्ण है। आप सबकी अभिव्यक्त भावनाओं का मुझे यही अर्थ समझ में आया है कि धर्म का पालन करते हुए हम जीयेंगे तो वीरों की तरह और मरेंगे भी तो वीरों की तरह।

गण परिषद् करतल ध्वनि से गूंज उठी। चेटक ने अपनी तलवार निकाली और सबकी तलवारों से उसका स्पर्श करते हुए घोषणा की- चेटक की तलवार की आन को कभी बट्टा नहीं लगेगा। मैं दृढ़ श्रावकव्रती हूँ- निरपराध जीवों का रक्षक हूँ किन्तु अपराधी के विरूद्ध बल प्रयोग के लिये पूर्ण स्वतंत्र हूँ। शान्ति का अभिलाषी हूँ किन्तु शान्ति का रक्षक भी हूँ। यदि कुणिक अब भी कोई शान्तिपूर्ण एवं सम्मानपूर्ण समाधान स्वीकार कर लेता है तो हम युद्ध नहीं करेंगे, अन्यथा उसके अन्याय एवं अहंकार के सामने नतमस्तक भी कभी नहीं होंगे। हम प्रतिज्ञा करते हैं कि न्याय की रक्षा एवं अन्याय के विरोध में अपने रक्त की अन्तिम बूंद तक बहा देंगे।

उसी समय सम्राट कुणिक के दूत को सभा में बुलाया गया और गण परिषद के निर्णयानुसार सन्देश का उत्तर दे दिया गया।

सब जानते थे कुणिक के अन्याय, हठ एवं अहंकार को, अतः युद्ध की तैयारी में सब जुट गये।

दूत ने लौटकर वैशाली गणतंत्र का उत्तर कुणिक को दिया। पत्र पढ़कर उसके तन-बदन में आग लग गई। एक सम्राट के आदेश की अवहेलना। क्या शक्ति है इस छोटे-से वैशाली गणतंत्र की । यूं मसल कर रख दूंगा और अपने साम्राज्य में मिला लूंगा कि वर्षों तक याद करते रहेंगे अपनी नादानी को। यह सब सोचते हुए कुणिक का अन्तर्मन एक बार भीतर झिझका- क्या उसे नानाजी के साथ युद्ध करना पड़ेगा? इस कृत्य पर उसकी माँ चेलना क्या कहेगी? सारा संसार क्या कहेगा? क्या हार और हाथी इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि वह नानाजी के सम्मानपूर्ण महत्त्व को ही भूल जाये? क्या अपने ही छोटे भाईयों का वध करने के लिये वह युद्ध करे? क्या इस सारे कांड को मेरा अन्याय नहीं कहा जायगा? एक सम्राट का अन्याय?

किन्तु वह झिझक अधिक न ठहर सकी। अन्यायी सदय नहीं होता, क्रूर होता है। वह शान्ति और न्याय की रक्षा नहीं, अपने अहंकार का वर्चस्व चाहता है। तो क्या कुणिक अब किसी भी विचार से कच्चा पड़ जाये और खुलेआम अपना मान भंग कर दे? नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। युद्ध होगा, युद्ध ही होगा, युद्ध अवश्य होगा- एक सम्राट का सम्मान कोई नहीं झुका सकता- नाना हो या पिता- उसे साम्राज्य विरोध का दंड भुगतना ही होगा।

और युद्ध होकर रहा। कुणिक की सेनाओं ने वैशाली पर आक्रमण कर दिया। दोनों सेनाएँ रणभूमि में आमने सामने डट गई। घमासान युद्ध हुआ- रथी से रथी, गजारूढ़ से गजारूढ़, अश्वारोही से अश्वारोही और पैदल से पैदल सैनिक भिड़ गये। नर मुंडों से भूमि पट गई, लहू की नदी बह चली और महाविनाश का भयानक दृश्य उपस्थित हो गया। वैशाली की सेना छोटी थी किन्तु अन्यायविरोधी गणतंत्रीय भावनाओं से भरपूर थी- इस कारण उसकी युद्ध कला में ओज था, तेज था जो विशाल सेना के छक्के छुड़ा रहा था। इस पर भी कुणिक का हृदय बदला नहीं, बल्कि हार के क्रोध से पागल हो उठा। उसने सारी शक्ति, सारा कपट और सारी कूटनीति युद्ध में झोंक दी।

एक अन्यायी ने अन्ततः विजय तो प्राप्त कर ली किन्तु उस श्मशान में खड़ा वह अकेला था। दोनों सेनाओं का संहार हो गया, हाथी आग में कूद गया, हार को देवता ले गया और हल्ल-विहल्ल दोनों भाई भगवान की शरण में दीक्षिप्त हो गये।

स्रोत- निरयावलिया सूत्र।

सार- अन्याय कदापि न करें पतन अन्याय भी कदापि नहीं सहें चाहे विरोध में प्राण त्याग दें।

❖ ❖ ❖

बारह बंध कच्चे धागे के

आर्द्रक द्वीप की राज्यसभा बैठी हुई थी। वहाँ के नरेश के साथ उस समय राजकुमार आर्द्रक भी बैठे हुए थे। तभी द्वारपाल ने सूचना दी- महाराज मगध देश के कई सार्थवाह इस समय आपके दर्शन करने के इच्छुक हैं।

महाराज ने आदेश दिया- जाओ, उन्हें ससम्मान लिवा लाओ।

मगध देश के कई सार्थवाहों ने प्रवेश किया। उनके साथ उपहारों के कई थाल भी थे, जिनमें भारतवर्ष की नई-नई बहुमूल्य वस्तुएँ सजी हुई थी। ये सार्थवाह इस सुदूर द्वीप में अक्सर अपने वाणिज्य पोत लेकर आया करते थे तथा आर्द्रक नरेश को नाना प्रकार के उपहार भेंट किया करते थे। दोनों नरेशों के मध्य भी उपहारों का आदान-प्रदान होने लगा था। इस प्रकार आर्द्रक नरेश एवं मगध नरेश के बीच भी बिना प्रत्यक्ष परिचय के सुखद मैत्री का सूत्रपात हो चुका था।

सार्थवाहों के नायक ने निवेदन किया- राजन् ! हमारे इन उपहारों के सिवाय मगधेश ने भी ये कुछ उपहार आपके लिये विशेष रूप से भिजवाये हैं। इस बार मगध के राजकुमार महामात्य अभयकुमार ने आर्द्रक कुमार के लिये भी पहली बार उपहार भेजे हैं।

यह सुनकर आर्द्रक कुमार को विशेष प्रसन्नता हुई। उसने अपने उपहार देखे तो उसकी भी अभय कुमार को अपनी ओर से उपहार भिजवाने की इच्छा हुई। जब नरेश ने मगधेश के लिये उपहार उन सार्थवाहों के साथ भिजवाये तो आर्द्रक कुमार ने भी अभय कुमार के लिये उपहार भेजे।

सार्थवाह उपहार देकर और लेकर मगध लौटे। आर्द्रक कुमार के उपहार पाकर अभय कुमार को भी उतनी ही प्रसन्नता हुई। उसका मन आर्द्रक कुमार के साथ गहरी मित्रता करने का हो गया, अतः जब अगली बार सार्थवाह अपने पोत लेकर आर्द्रक द्वीप जाने को हुए तो उसने पुनः आर्द्रक कुमार के लिये कोई विशिष्ट उपहार भेजने का निश्चय किया।

अभय कुमार तब सोचने लगा कि वह विशिष्ट उपहार क्या हो? उसका विचार बना कि बहुमूल्य वस्तुएँ तो दोनों राज्यों में भरपूर हैं और मणि-माणिक्य आदि रत्न भी। इस कारण उसका उपहार ऐसा होना चाहिये,

जो आर्द्रक कुमार के अन्त:करण का स्पर्श करे और उसे जागृत बनावे। जागृत अन्त:करण के साथ जो उन दोनों की मित्रता की जड़े जमेगी वे गहरी होंगी और चिर-स्थायी भी। यह सोचकर उसने एक सुन्दर मंजूषा (पेटी) में वीतराग भाव जगाने वाले धर्म साधना सम्बन्धी उपकरण रखे और अपने हाथ का लिखा पत्र भी। पत्र में उसने लिखा- मेरे प्रिय मित्र, हमने एक-दूसरे को देखा नहीं है, किन्तु हमारे हृदयों में मैत्री की प्रबल धारा प्रवाहित होने लगी है। मेरा मन तो प्रत्यक्ष मिलन हेतु स्वयं आने का था, किन्तु राजकाज की जटिलता के कारण ऐसा नहीं कर पा रहा हूँ, जिसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ। मैं उत्सुक हूँ कि तुम यहाँ आओ और हम दोनों मिलकर एक बनें। यह छोटा उपहार भेजा है, जो मेरा विश्वास है, तुम्हारे अन्त:करण में एक नवीन जागृति को जन्म देगा। तुम्हारा दर्शनाभिलाषी- अभय कुमार। उसने अपने एक खास सार्थवाह को वह मंजूषा दी और निर्देश दिया कि उसे वह आर्द्रक कुमार को अलग से दे तथा निवेदन करे कि वे मंजूषा को एकान्त में खोलें।

आर्द्रक कुमार ने वह मंजूषा एकान्त में खोली तो वह आश्चर्यचकित रह गया कि उसमें बहुमूल्य वस्तुओं के स्थान पर धार्मिक उपकरण और पत्र था। पत्र उसने ध्यानपूर्वक पढ़ा, उसके हृदय में मैत्री का ज्वार

उठने लगा। परन्तु धार्मिक उपकरणों को देखकर उस पर से अपनी दृष्टि हटाने को ही उसका मन नहीं हुआ। उसकी दृष्टि उन उपकरणों पर जमी हुई थी और उसके अन्तःकरण में वीतरागता की भावनाएँ उमड़ रही थी। वह गहन चिन्तन में डूब गया- यह उपकरण तो मेरा पूर्व परिचित लगता है। इसको मैंने देखा ही नहीं है, अपितु इसके आधार पर मैंने कठिन धर्म साधनाएँ की हैं। वे मुझे बहुत प्रिय थी क्योंकि उनसे मेरा आत्महित सधा था। क्या थी वे धर्म साधनाएँ और कैसे है ये उपकरण? वह चिन्तन की गहरी परतों में उतरता गया और जागृति की उस सीमा पर पहुँच गया जहाँ उसे जातिस्मरण ज्ञान हो आया। उसका पूर्वभव उसके सामने स्पष्ट हो गया कि उसने वे धर्म साधनाएँ की थीं, जिनके प्रभाव से उसे यह सुखमय जन्म प्राप्त हुआ है। अब यदि उसे अपने भावी को सच्चे सुख से परिपूरित करना है तो उन्हीं धर्म साधनाओं की पुनः आराधना करनी चाहिये और इसके लिये आवश्यक है भारतवर्ष में पहुँचना एवं अभय कुमार की प्रत्यक्ष मैत्री प्राप्त करना।

आर्द्रक कुमार तब आतुर हो उठा कि वह कैसे और कितनी जल्दी भारतवर्ष पहुँचे? उसे और कुछ नहीं सूझा, वह अपने पिता के पास उसी समय पहुँचा। उसने निवेदन किया- पिताश्री, आपकी और मगध नरेश की

मैत्री है ही, मेरी और मगध राजकुमार की मैत्री भी हो गई है। मैं चाहता हूँ कि मैं भारतवर्ष जाऊं एवं मैत्री के इस पौधे का भलीभांति सिंचन करूं। आप कृपया आज्ञा प्रदान करें तथा मेरे भारतवर्ष जाने का प्रबन्ध करा दें।

आर्द्रक महाराज ने यह कभी नहीं सोचा था कि इस बढ़ती हुई मैत्री के साथ उनका इकलौता राजकुमार उन्हें छोड़कर इतने दूर देश जाने को तैयार हो जायेगा। यह वे कदापि सहन नहीं कर सकते कि उनका प्यारा पुत्र उनसे विलग हो जाये, परन्तु उसकी वह उत्सुकता देखकर उनका साहस नहीं हुआ कि वे उसके प्रस्ताव को स्पष्ट रूप से अस्वीकृत कर दें। अतः प्रत्यक्ष में उन्होंने इतना ही कहा- हाँ आर्द्रक, मैं ऐसा प्रबन्ध अवश्य करवा दूंगा, किन्तु इसके लिये इतनी शीघ्रता मत करो।

महाराज की मुद्रा देखकर उस समय आर्द्रक चला तो गया किन्तु उसका हृदय आशंकित हो उठा। उसे लगा कि महाराज उसे भारतवर्ष भेजना नहीं चाहते और वास्तव में महाराज ने उसे भारतवर्ष न जाने देने का पक्का प्रबन्ध कर लिया। उन्होंने पाँच सौ अपने विश्वस्त सुभरों की एक ईकाई बनाई तथा उसे कठोर निर्देश दिया कि वह राजकुमार पर हर वक्त कड़ी नजर रखे- वह किसी भी दशा में भारतवर्ष के लिये प्रस्थान न कर सके।

आर्द्रक कुमार की आशंका उस वातावरण को सूंघते हुए सावधानी में बदल गई तथा उसने चतुराई के साथ भारतवर्ष के लिये प्रस्थान करने का संकल्प कर लिया कि उन सुभटों को कानों कान भी खबर न लगे। संकल्प सुदृढ़ होता है तो संयोग भी मिल ही जाता है। वन विहार के बहाने आर्द्रक कुमार वन प्रान्तर में बहुत दूर निकल गया तथा समुद्र तट तक पहुँच गया। वहाँ उसे एक भारतीय पोत मिल गया जिस पर सवार होकर उसने भारत की पुण्यभूमि पर अपने पाँव रख दिये। उस भूमि के स्पर्श ने ही उसकी आत्मा को जागृत बना दी। तब उसने स्वयंमेव ही मुनि वेष धारण कर लिया तथा अभय कुमार से मिलने के लिये राजगृह की ओर विहार कर दिया।

मार्ग में वसन्तपुर नामक नगर पड़ा। आर्द्रक मुनि वहाँ एक मन्दिर में ठहरे तथा ध्यान साधना में लीन हो गये। वह संध्या का समय था तथा धीरे-धीरे चारों ओर अंधकार फैलने लगा था। मन्दिर के अहाते में कुछ कन्याएँ पतिवरण का खेल-खेल रही थी। वे आँखें बन्द करके दौड़ती और जिसका वे प्रथम स्पर्श करती उसे अपना पति कहकर पुकारती। फिर आँखें खोलकर एक दूसरी का वे उपहास करती। किसी के हाथ खंभे से लिपटते तो वह घोषणा करती- यह उसका पति है और

कोई किसी अन्य वस्तु को पकड़कर ऐसा कहती। उन कन्याओं में एक श्रीमती धनश्री नाम की अत्यन्त सुन्दर श्रेष्ठी-कन्या भी थी। खेल-खेल में खंभा समझकर उसने एक अंधेरे कोने में ध्यानस्थ खड़े मुनि आर्द्रक को अपने हाथों में लपेट लिया और जोरों से चिल्ला पड़ी- यह मेरा पति है। परन्तु जब उसने और उसकी सखियों ने अपनी-अपनी आँखें खोली तथा उस तरफ देखा तो एकबारगी सभी सन्न रह गई। फिर विनोद-विनोद में ही उसकी सखियाँ बोल पड़ी- वाह सखी श्रीमती, तेरा पति तो वास्तव में अति सुन्दर है।

श्रीमती की आँखें भी ऊपर उठी, वह हतप्रभ हो देखती ही रही- अद्‌भुत सौन्दर्य से चमकता हुआ गौर वर्ण भव्य ललाट, चेहरे का गुलाब-सा रंग, आकर्षक विशाल नेत्र एवं सौम्य प्रभाव से युक्त क्रान्तिमान शरीर। मुनि का रूप उसकी आँखों में बस गया। उसने मन ही मन उन्हें पति रूप में स्वीकार कर लिया। उसके हृदय में प्यार छलछला आया और वह उन पर विमुग्धा हो गई।

सखियों ने घोषणा कर दी- हमारी सखी श्रीमती अत्यन्त सौभाग्यशालिनी है जो उसे ऐसा पति मिल गया है। अब सब इसके घर चलो ताकि श्रेष्ठि महाशय को हम बधाई दे सकें और वे इसके विवाह की तैयारी आरंभ करें।

सब वहाँ से चली गई तो आर्द्रकमुनि ने इसे नई विपत्ति मानकर वहाँ से तुरन्त विहार कर देने की सोच ली। तभी श्रीमती के माता-पिता परिजन वहाँ पहुँच गये। वे बोल पड़े- अरे, ये तो मुनि हैं। मुनि के साथ भी कोई विवाह होता है? यह विचार ही गलत है। फिर वे श्रीमती को साथ ले घर को लौट गये और आर्द्रकमुनि भी आगे विहार कर गये।

किन्तु श्रीमती ने तो अटल निश्चय कर लिया- वह विवाह करेगी तो इसी युवक के साथ, अन्यथा आजन्म वह विवाह नहीं करेगी। उसके विवाह के लिये कई प्रस्ताव आए, किन्तु उसने कोई प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। अन्त में अपनी पुत्री की खुशी के लिये माता-पिता ने आस-पास उन मुनि की काफी खोज की, किन्तु वे भी नहीं मिले। वे तब निराश होकर दु:खी रहने लगे।

धीरे-धीरे सभी सहेलियों के विवाह हो गये, पर श्रीमती अपने निश्चय से नहीं डिगी- विवाह उन्हीं मुनि के साथ, अन्यथा नहीं। माता-पिता ने मुनि को ढूंढने के लिये एक दानशाला खोल दी ताकि अभ्यागतों की सेवा करते हुए वह मुनि को खोज ले। कई वर्षों बाद एक दिन आर्द्रक मुनि विहार करते हुए वसन्तपुर आये। उन्हें देखते ही श्रीमती ने उन्हें तुरन्त पहिचान

लिया और यह कहते हुए उनके चरणों से लिपट गई- मेरे देवता ! आप मुझे स्वीकार करो या ठुकरा दो- यह आपकी इच्छा है किन्तु मैं तो केवल आपकी हूँ तथा तभी से आपकी ही प्रतीक्षा कर रही हूँ। अब भी यदि आप मुझे नहीं अपनायेंगे तो मैं अपने प्राण त्याग दूंगी। फिर इस उजड़े हुए यौवन और जीवन को रखने से भी क्या लाभ? मेरे स्नेह को पहचानिये और तिल-तिल जल रहे मेरे जीवन को बचा लीजिये।

वह उस सच्चे स्नेह का ही गूढ़ प्रभाव था कि आर्द्रकमुनि का मन पिघल कर मोम हो गया। स्नेह जगाता भी है तो मोह से आवेष्ठित होकर वह सुला भी देता है और आर्द्रक का साधुत्व उस स्नेह के आगे सो गया- मुनि आर्द्रक गृहस्थ बन गये श्रीमती के पति होकर। पति हुए तो पिता भी बन गये। बालक की मधुर किलकारियों से घर का आंगन ही नहीं, पिता का हृदय भी गूंजने लगा- साधना के उन्मुक्त जीवन को छोड़कर वह ममता के बंधन में जो बंध गया था।

साधना का जीवन और ममता का बंधन- ये दो विपरीत दिशाएँ थी। एक से दूसरी दिशा में दूर तक गति कर लेने पर प्रतिक्रिया का पैदा होना सहज स्वाभाविक होता है। आर्द्रक का हृदय भी इस प्रतिक्रिया से घिर उठा- उसने यह क्या कर लिया? क्या इसी के लिये

उसने अपने माता-पिता के अथाह प्यार और अपने प्यारे देश को त्यागा? क्या यह उसका भटकाव नहीं है? और यदि भटकाव है तो वह इस दिशा से पुनः उसी दिशा में चलना आरंभ क्यों नहीं कर देता है? यह न हो कि वह सदा के लिये भटक जाये और उस पवित्र उद्देश्य को भुला दे जिसके लिये वह भारतवर्ष आया है। उसे धर्म साधना से अपनी आत्मा का उद्धार करना है इसके लिये ममता के बंधन को तोड़ना ही होगा और साधना के पथ पर फिर से चलना ही होगा.....

प्रतिक्रिया घिरी तो वह गहराने भी लगी। मन ही मन निश्चय होने लगा कि उसे महासागर को तैर कर पार करना है, इस तलैया में डूबकर नहीं रह जाना है। एक दिन उसने अपनी सारी मनोव्यथा अपनी धर्मपत्नी पर प्रकट कर दी और पूछा- क्या तुम इसे उचित नहीं मनोगी कि मैं पुनः दीक्षा ले लूं? तुम्हारे स्नेह ने मुझे सुलाया है तो क्या वह मुझे जगा नहीं सकेगा? क्या तुम मुझे अपने निश्चय से रोकोगी तो नहीं?

श्रीमती कुछ न बोल सकी- केवल उसकी आँखों से झर-झर आंसू बहते रहे। वह सोचती रही- उसके पति का आग्रह अयथार्थ नहीं। उसी के लिये उन्होंने साधुपना छोड़ दिया था। अब वे पुनः साधु बनें और प्रायश्चित्त करें यह अनुचित नहीं। फिर भी वह

अपने मुँह से क्या कहे? उसका हृदय तो ममता के बंधन से मुक्त नहीं था।

आर्द्रक का संकल्प बनता रहा, दृढ़ होता रहा और समय बीतता रहा। एक दिन उसकी धर्मपत्नी श्रीमती चरखा लेकर सूत कातने लगी तभी उसका पुत्र वहाँ आ गया। वह सात-आठ वर्ष का हो गया था और उसकी समझ तीव्र गति से बढ़ रही थी। सूत कातते देख उसने अपनी माता से पूछ लिया- माँ, तुम्हारे किस बात का अभाव है जो तुम सूत कातने लगी हो? पिताजी सब कर ही रहे हैं और वे तुम्हें और मुझे कितना प्यार जो करते हैं।

सुनकर श्रीमती के नैत्र छलछला आए, बोली- पुत्र, तुम्हारे पिता अब हम सबको छोड़कर साधु बनने वाले हैं, इस कारण आगे अपना निर्वाह चलाने के लिये मैंने सूत कातना शुरू किया है। कुछ न कुछ उद्यम तो करना ही चाहिये ताकि मन उसमें लगा रहे।

माँ, पिताजी हमको छोड़कर साधु क्यों बन रहे हैं? क्या उन्हें हमारे से कोई कष्ट है? क्या वे हमसे रूष्ट हैं? बालक ने पूछा।

नहीं बेटे, ऐसी कोई बात नहीं। वे साधु बनकर भगवान महावीर के चरणों में धर्म साधना करना चाहते हैं।

यह तो मुझे ठीक नहीं लगा माताश्री, कि वे कर्म साधना को अधूरी ही छोड़कर धर्म साधना के लिये हमें छोड़ दें। मैं ऐसा नहीं होने दूंगा। मैं पिताजी को अभी ही बांध देता हूँ। देखता हूँ, इससे कैसे छूट जाते हैं वे?

पिताजी वहीं पलंग पर सोये हुए थे और माँ सूत कात ही रही थी। बालक ने उस कते हुए सूत का कच्चा धागा लिया और सोये हुए पिताजी का पांव पलंग से बांध दिया। पांव पर उस कच्चे धागे के उस बालक ने बारह बंध लगा दिये। फिर तालियाँ पीटता हुआ वह माँ से बोला- देखा माँ तुमने, मैंने पिताजी को बांध दिया है। अब वे हमें छोड़कर कहीं जा न सकेंगे। तुम निश्चिन्त हो जाओ और आंसू बहाना छोड़ दो। माँ ने बालक को प्यार से अपनी गोद में भर लिया।

आर्द्रक कुमार भी अधमुंदी आँखों से लेटे थे। उन्होंने माता पुत्र का वार्तालाप भी सुना तो पुत्र द्वारा कच्चे धागे से उनके पांव पर बारह बंध बांधना भी देखा। वे सहज ममता से आर्द्र हो उठे। उनका हृदय स्नेह सिक्त होकत विगलित हो गया- कच्चे सूत के ये बंध क्या साधारण बंध हैं? क्या इन्हें तोड़ पाना सरल है? पत्नी और पुत्र का सहज स्नेह दान क्या वे ठुकरा पायेंगे? उन्हें लगा- वे बंध कच्चे धागे के नहीं, फौलाद

की जंजीरों के हैं, जिन्हें उनके पांव तोड़ नहीं पायेंगे। ये तो वज्र बंध प्रतीत होते हैं- बालक के निश्छल स्नेह के बंध।

संसार के राग, परिजन, पदार्थ सब जीवन को ममता के ऐसे कठिन बंधन में जकड़ लेते हैं कि उनको तोड़ पाना कठिन ही नहीं, दुष्कर होता है। तभी तो आर्द्रक कुमार एक बार साधु बनकर भी पुनः साधु नहीं हो पा रहे थे। ममता को पतली बनाकर संकल्प साधना शुरू किया तो पुत्र ने पुनः ममता के प्रगाढ़ बंधन से बांध दिया। कच्चे धागे के उसने बारह बंध क्या लगाये कि गृहस्था श्रम में आर्द्रक कुमार ने बारह वर्ष और बिता दिये।

इस बीच उन्होंने अपने पुत्र को समुचित शिक्षा-दीक्षा दी और उसे सुयोग्य बनाया। अपनी पत्नी की भावनाओं में भी उन्होंने आध्यात्मिक रंग भरे तथा अपने गृहस्थ धर्म को आदर्श स्वरूप प्रदान किया। इस कर्म साधना में ही उन्होंने बारह वर्ष व्यतीत किये और तब धर्म साधना हेतु प्रयाण करने में उनके लिये कोई व्यवधान न रहा।

आर्द्रक कुमार तब भगवान महावीर के चरणों में पहुँचे और श्रमण बन गये। पुनर्दीक्षित होकर आर्द्रकमुनि

ने ऐसी कठिन आत्मसाधना की कि पूर्व संचित कर्म गलने लगे। परम उज्ज्वल स्वरूप प्राप्त कर उनकी आत्मा ने अमर आलोक में सदा काल अवस्थान पा लिया।

स्रोत- सूत्रकृतांग निर्युक्ति, चूर्णि टीका।

सार- सुबह का भूला हुआ भूला नहीं कहलाता, बशर्ते कि वह शाम तक घर लौट आवे। गिरकर उठ जाना- आत्मा की स्थायी सावधानी बननी चाहिये।

❖ ❖ ❖